

बी.ए. (प्रोग्राम)

सैमेस्टर-I

संस्कृत

DISCIPLINE SPECIFIC CORE COURSE

SANSKRIT POETRY

रघुवंश महाकाव्यम्-प्रथम सर्ग (1-25)

अध्ययन सामग्री: अन्विति I एवं अन्विति II



SCHOOL OF OPEN LEARNING

University of Delhi

संस्कृत-विभाग

सम्पादिका : डॉ. रमा जैन

स्नातक पाठ्यक्रम

DSC : SANSKRIT POETRY

अध्ययन सामग्री : अन्विति I एवं अन्विति II

अनुक्रम

1. महाकवि कालिदास एवं उनका महाकाव्य रघुवंश 1-12
2. महाकाव्य रघुवंश-प्रथम सर्ग (1-10) : मूल पाठ, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ 13-21
3. महाकाव्य रघुवंश-प्रथम सर्ग (11-25) : मूल पाठ, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ 22-32

सम्पादिका : डॉ. रमा जैन



मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

महाकवि कालिदास एवं उनका महाकाव्य रघुवंश

महर्षि वाल्मीकि एवं महर्षि वेदव्यास के पश्चात् जिस महाकवि ने भारतीय साहित्य और चेतना पर दूर तक अमिट छाप छोड़ी है, वह कालिदास है। कम ही कवि ऐसे होते हैं, जिन्हें किसी राष्ट्र की समूची सांस्कृतिक चेतना को मुखरित करने की कला पर अधिकार होता है। कालिदास ऐसे ही कवि हैं। “भारतवर्ष के ऋषियों, सन्तों, कलाकारों, राजपुरुषों और विचारकों ने जो कुछ उत्तम और महान् दिया है, उसके सहस्रों वर्ष के इतिहास का जो कुछ सौन्दर्य है, उसने मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से उठाकर देवत्व में प्रतिष्ठित करने की जितनी विधियों का संधान किया है उन सब को ललित-मोहन और सशक्त वाणी देने का काम कालिदास ने किया है।”¹ सम्पूर्ण भारतीय मनीषा ने कालिदास की इस महिमा को स्वीकारा है और उन्हें राष्ट्रीय कवि की उपाधि से सम्मानित किया है।

सैकड़ों वर्षों तक उनकी ललित-गहन कविता ने आनन्द और प्रेरणा दी है। वाल्मीकि और व्यास की भांति उनकी कविता ने भी महनीय और उदात्त चरित्रों की सृष्टि की है। जहाँ भी कालिदास की तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि गई है वहीं उसने जीवन के किसी-न-किसी अदृष्ट पक्ष को उद्घाटित किया है। साहित्य और चिंतन की इतनी बड़ी विरासत के साथ न्याय करने की क्षमता हर किसी कवि में नहीं होती और यदि कालिदास यह कर सके तो यह उनकी अर्थग्राहिका शक्ति और मर्मभेदिनी दृष्टि का परिचायक है।

परन्तु जिस कवि ने भारत की अन्तरात्मा को वाणी दी, वे अपने जीवन के विषय में सर्वथा मौन हैं। यही कारण है कि उनकी स्थिति-काल, जन्म-स्थान तथा व्यक्तिगत जीवन को लेकर बड़ा मत-वैभिन्न्य है। उनकी रचनाओं के अनुशीलन करने के पश्चात् हम इतना ही जान पाते हैं कि वे ऐसे युग में हुए जबकि देश में शान्ति और समृद्धि विद्यमान थी। विद्वानों के अनुसार उज्जैन के सम्राट् वीर विक्रमादित्य उनके आश्रयदाता थे और वे स्वयं भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे। परम्परा से उनके विषय में यह जनश्रुति चली आ रही है कि वे विदेशी हूण आक्रमणकारियों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में ईसवी पूर्व सन् 57 में अपने नाम से विक्रम संवत्सर का प्रवर्तन करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य की राज्य सभा के नवरत्नों में से एक थे। कथा-सरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य और उनके पिता महेन्द्रादित्य दोनों ही भगवान् शिव के परमभक्त थे। महाकवि कालिदास भी शिवभक्त थे। इस आधार पर कालिदास का समय ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी ही स्वीकृत होता है।

इसके विपरीत अन्य विद्वानों की धारणा है कि महाकवि कालिदास भारतीय इतिहास स्वर्णिम युग में अर्थात् गुप्त शासकों के काल (320 ई.-510 ई.) में हुए। जैसा कि कालिदास के विषय में प्रसिद्ध है वे ऐन्द्रिय विषयों, कलात्मक सौन्दर्य एवं भोगयुक्त भावनाओं के मर्मज्ञ सर्वोत्कृष्ट कवि थे; अतः हो सकता है कि वे ऐश्वर्यप्रधान गुप्तयुग की देन हों। गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास में चरम भौतिक उन्नति तथा वैभव का काल माना जाता है। कालिदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने ‘विक्रमादित्य’ की उपाधि धारण करने वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-415 ई.) के उत्तरकालिक समय में अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया, कुमारगुप्त प्रथम के वे समकालीन रहे तथा स्कन्दगुप्त के शासन काल में भी कुछ समय तक उनकी साहित्य साधना चलती रही। इस प्रकार वे तीन प्रख्यात गुप्त शासकों - चन्द्रगुप्त

1 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : “कालिदास की लालित्य-योजना”, पृष्ठ 9

द्वितीय, कुमार गुप्त और स्कन्दगुप्त – की राजसभा में रहे। अतएव उन्हें भारतीय चेतना एवं समृद्धि के सुवर्ण युग से सम्बद्ध माना जाता है।

कालिदास के विषय में विद्वानों के इन विभिन्न विचारों और मतों को देखते हुए कालिदास का कोई निश्चित समय ज्ञात कर पाना वस्तुतः बहुत कठिन है। ईसवी सन् 634 के 'ऐहोल' शिलालेख में कालिदास के नाम का उल्लेख मिलता है तथा ईसवी सन् 472 के लिखे वत्सभट्टि के मन्दसौर शिलालेख के कुछ पद्य तो कालिदास के ऋतुसंहार तथा मेघदूत खंडकाव्यों के पद्यों का अनुकरण मात्र प्रतीत होते हैं। इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि कालिदास के काल की परवर्ती सीमा ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी के पीछे नहीं ले जायी जा सकती। इसके अतिरिक्त कालिदास ने भास को अपना पूर्वनाटककार माना है और अपनी रचनाओं में उसके नाम का विशेष रूप से उल्लेख किया है। अतः कालिदास नाटककार भास (ई. पूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी) से परवर्ती बैठते हैं। कालिदास का काव्य महाकवि अश्वघोष के काव्य से बहुत मिलता-जुलता है और अश्वघोष का काल निश्चित रूप से ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है, क्योंकि वे राजा कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई.) के समकालीन थे। विद्वानों का अधिकतर झुकाव कालिदास को अश्वघोष का परवर्ती मानने का है, परन्तु ठोस प्रमाणों के अभाव में कालिदास का काल अनिश्चित ही है।

महाकवि कालिदास के जन्म स्थान के विषय में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास के समलोचकों में पर्याप्त मतभेद हैं। इस संदर्भ में स्वर्गीय डॉ. लक्ष्मीधर जी के वचन ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं – “कालिदास इतने व्यापक और सार्वभौम संवेदनाओं के कवि हैं और उनका मन राष्ट्रीयता की भावना से इतना ओत-प्रोत है कि उनकी रचनाओं के आधार पर यह जान लेना कि भारतवर्ष के किस विशेष भाग या भागों में वे उत्पन्न हुए और कहाँ उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया, सुलभ नहीं।” महाकवि कालिदास इस विशाल देश के कोने-कोने से सुपरिचित हैं तथा उन्होंने अपनी कृतियों में इस देश के विभिन्न भू-भागों, पशुओं, पक्षियों, पेड़-पौधों और यहाँ के निवासियों की रीतियों, प्रथाओं और विश्वासों का इतना यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है कि देश के किसी विशेष स्थान या प्रान्त को उनकी जन्म-भूमि सिद्ध करना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव प्रतीत होता है। विद्वानों ने कालिदास को बंगाल, काश्मीर, मालवा, विदर्भ, गढ़वाल प्रान्त के निवासी बताकर मत-भिन्नता प्रकट की है। अतएव कालिदास के जन्म स्थान की समस्या का कोई हल अभी तक नहीं निकला है और यह समस्या अभी तक उसी प्रकार उलझी हुई है। इस सन्दर्भ में केवल एक ही बात कुछ निश्चय के साथ कही जा सकती है कि कालिदास ने अपने जीवन का बहुत-सा भाग मालवा देश में, विशेष रूप से उज्जैन नगर में व्यतीत किया होगा, क्योंकि इसके सौन्दर्य और वैभव का उन्होंने रचनाओं में बड़ी तन्मयता और रुचि के साथ वर्णन किया है और इससे सम्बन्धित अपने अनुभवों को विशेष वाणी दी है।

इस महान् कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में भी हमें वास्तविक ज्ञान उपलब्ध नहीं है। किसी विश्वसनीय प्रमाण के न होने से कालिदास के जीवन के विषय में अनेक प्रकार की कथाएँ कल्पित कर ली गई हैं। इनमें से अत्यधिक लोकप्रिय कथा उनके बारे में यह सुनने में आती है वे जन्म से वज्रमूर्ख थे और कुछ पण्डितों षडयंत्र के कारण उनका विवाह विद्योत्तमा नामक विदुषी राजकुमारी से हो गया। विद्योत्तमा ने शास्त्रार्थ में पण्डितों को पराजित कर दिया था और उन्होंने अपनी पराजय का बदला चुकाने के लिए धोखे का एक जाल बिछाया और राजकुमारी का मूर्ख कालिदास से विवाह करवा दिया। उनके विषय में एक अन्य अत्यधिक लोक-प्रचलित यह कथा प्रसिद्ध है कि लंका की राजनर्तकी ने

जिसके साथ वे अपनी आश्रयदाता विक्रमादित्य के साथ किसी कारण से झगड़ा हो जाने के कारण गुप्त रूप से निवास कर रहे थे, उनकी हत्या कर दी।¹

कालिदास के बहुत बाद के कुछ कवियों जैसे बल्लाल ने उन्हें धारा नागरी के सम्राट् भोज का राजकवि बताया है और कुछ ने सोचे-समझे बिना ही उन्हें परवर्ती कवियों जैसे दंडी, भवभूति आदि का समकालीन बना दिया है। कालिदास की कृतियों का अनुशीलन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वे जाति से ब्राह्मण और भगवान शिव के परमभक्त थे तथा विष्णु एवं अन्य अवतारों एवं देवताओं के प्रति उनकी रुचि उनके स्मार्त होने की परिचायिका है। उन्होंने प्राचीन धर्मग्रन्थों और शास्त्रों एवं भारतीय दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों का गहन अध्ययन किया था तथा व्याकरण, राजनीति, छन्द-शास्त्र, काव्य-शास्त्र जैसे दुरुह विषयों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

कालिदास को बहुत से ग्रंथों का रचयिता माना जाता है। प्रोफेसर एम.आर. काले ने लगभग चालीस (40) ऐसे ग्रंथों का उल्लेख किया है कि जिन्हें कालिदास द्वारा लिखा माना जाता है। परन्तु इनमें से केवल सात ही ऐसे ग्रंथ हैं जिन्हें विद्वान् सर्वसम्मति से कालिदास द्वारा लिखा स्वीकार करते हैं। वे ग्रंथ हैं—

- (क) ऋतुसंहार और मेघदूत – दो खण्ड काव्य।
- (ख) कुमारसम्भवम् और रघुवंशम् – दो महाकाव्य।
- (ग) मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान-शाकुन्तलम् – तीन नाटक।

यहाँ हम 'रघुवंशम्' महाकाव्य पर ही विचार करेंगे।

'रघुवंश' महाकाव्य कालिदास की नैसर्गिक प्रतिभा का फल है। इसके उन्नीस (19) सर्ग हैं। इसमें सूर्य-वंश के विश्व-विदित यशस्वी राजाओं के जीवन-चरित्र का वर्णन है। तथापि कालिदास से पूर्व भी कुछ कवि (पूर्वसूरयः) जैसे महर्षि वाल्मीकि, महाकवि भास आदि इस विषय को लेकर काव्य लिख चुके थे और स्वयं कालिदास ने भी अपने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में इस बात को स्वीकार किया है तथा उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकवि वाल्मीकि की रामायणी कथा का आँख मूंद कर अनुकरण नहीं किया है। वाल्मीकिकृत रामायण की कथा अयोध्यानगरी में महाराजा दशरथ के राज्य से प्रारम्भ होती है और श्रीराम के पुत्रों तथा भाइयों के वृत्तान्त के उल्लेख के साथ समाप्त होती है। परन्तु महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य की कथा श्रीराम के पूर्वज राजा दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ होती है तथा विषयासक्त कामुक राजा अग्निवर्ण की मृत्यु के वर्णन के साथ अकस्मात् ही समाप्त हो जाती है।

1 यह किवदंती सुनने में आती है कि एक बार कालिदास ने अपनी आश्रयदाता सम्राट् विक्रमादित्य को किसी कारणवश रुष्ट कर दिया और इस पर उस राजा ने कालिदास को अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। निर्वासित होकर कालिदास लंका देश में चले गये और वहाँ गुप्त रूप से राजनर्तकी के पास रहने लगे। उधर विक्रमादित्य को भी अपनी भूल पर पश्चात्ताप होने लगा और वे स्वयं कालिदास की खोज में उज्जैन नगरी से निकल पड़े। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे लंका देश में पहुँचे और जब उनके सम्मान में वहाँ के नरेश ने नृत्य समारोह का आयोजन किया तो उस अवसर पर उनकी भेंट राजनर्तकी से हुई और उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्होंने कहा—

“कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते”

अर्थात् कमला (लक्ष्मी का कमल में से जन्म सुना तो जाता है, परन्तु देखा कभी नहीं गया) और तत्काल ही उन्होंने घोषणा की कि जो इस अधूरे पद्य को इसके अनुरूप दूसरी सुंदर पंक्ति रचकर पूर्ण करेगा उसे प्रचुर धनराशि पारितोषिक के रूप में दी जायेगी। राजनर्तकी ने पूरी घटना कालिदास को सुनाई और उनसे इस अपूर्ण पद्य की पूर्ति करने की प्रार्थना की। कालिदास ने तुरन्त ही इस प्रकार पद्य को पूर्ण कर दिया—

“बाले! तव मुखाम्बोजे कथमिन्दीवरद्वयम्”

अर्थात् हे सुंदरी! देखो यह कैसा आश्चर्य है कि तुम्हारे कमल जैसे मुख में दो कमल उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं। इस पर राजनर्तकी ने पारितोषिक के धन के लोभ में आकर कालिदास की हत्या कर दी।

कभी-कभी विद्वान् रघुवंश के पौराणिक पात्रों तथा आद्य गुप्त सम्राटों के ऐतिहासिक चरित्र में परस्पर समानता ढूँढने का प्रयास करते हैं। परन्तु इस प्रकार की तुलना तथा विस्तार में जाने से पूर्व रघुवंश की विस्तृत विषय सूची को उसके प्रत्येक सर्ग के सारांश के साथ जान लेना अधिक उपयुक्त होगा। अतः सबसे पहले 'रघुवंश' के प्रत्येक सर्ग की विषय वस्तु का सार नीचे क्रमपूर्वक दिया जाता है—

प्रथम सर्ग

वैवस्वत मनु के वंश में महाराज दिलीप नामक सुप्रसिद्ध सम्राट् हुए। मगध देश की राजकुमारी सुदक्षिणा उनकी रानी बनी। दुर्भाग्य से दिलीप को सुदक्षिणा से कोई सन्तान नहीं हुई। दिलीप इस बात से बहुत खिन्न रहते थे। एक दिन वे सुदक्षिणा को अपने साथ लेकर इस सम्बन्ध में अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के आश्रम पहुंचे। तब ऋषि ने ध्यान लगाकर राजा के सन्तान न होने का यह कारण ज्ञात किया कि एक बार स्वर्गलोक से भूलोक को लौटते हुए राजा ने मार्ग में खड़ी दिव्य गौ सुरभि (कामधेनु) के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया था। इस उपेक्षावृत्ति से रुष्ट होकर सुरभि ने राजा को शाप दिया कि उसको तब तक सन्तान नहीं होगी, जब तक वह उसकी पुत्री नंदिनी गौ को सेवा से संतुष्ट नहीं कर लेगा। सौभाग्य से सुरभि की पुत्री नंदिनी गौ उस समय ऋषि के आश्रम में ही विद्यमान थी। अतः ऋषि ने राजा को आदेश दिया कि वह अपनी रानी के साथ नंदिनी की सेवा करके उसे प्रसन्न करे और पुत्र-प्राप्ति के लिए उसका आशीर्वाद प्राप्त करे। राजा एवं रानी नियमापेक्षा से महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में मुनिवृत्ति से रहने लगे।

द्वितीय सर्ग

महाराजा दिलीप और महारानी सुदक्षिणा ने परम भक्ति और निष्ठा के साथ नंदिनी की सेवा आरम्भ कर दी। एक दिन जब राजा दिलीप हिमालय पर्वत के सौन्दर्य को मुग्ध होकर देख रहे थे, तो सहसा पर्वत की गुफा से निकलकर किसी सिंह ने नंदिनी गाय को पकड़ लिया। गौ के प्राणों की रक्षा के लिए राजा ने अपने को बलिदान करना चाहा। धर्मनिष्ठ राजा को प्राणों की अपेक्षा गौरक्षा अधिक प्रिय था। एक गाय की रक्षार्थ चक्रवर्तित्व का बलिदान भारत ही की देन है। परन्तु राजा दिलीप के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब सिंह ने मनुष्य की वाणी में कहा कि वह शिव का सेवक है। उसने राजा को गौ की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने से रोका। राजा फिर भी सिंह से प्रार्थना करते रहे और गौ के स्थान पर उसे अपना शरीर भोजन के रूप में देने का आग्रह करते रहे। राजा की ऐसी बलिदान तथा आत्म-त्याग की भावना को देखकर नंदिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और इस सारे रहस्य को खोलते हुए उसने कहा कि उसने राजा की परीक्षा लेने के लिए यह माया रची थी। वस्तुतः वहाँ कोई सिंह नहीं था। प्रसन्न होकर उस नंदिनी गाय ने राजा को वर दिया कि उसको पुत्र होगा।

तृतीय सर्ग

समय आने पर सुदक्षिणा ने पुत्र को जन्म दिया। इस सर्ग में राजकुमार रघु के जन्म और उसकी शिक्षा का वर्णन है। दिलीप ने अपने पुत्र राजकुमार रघु को अश्वमेघ यज्ञ के अश्व का संरक्षक नियुक्त किया। अश्व-रक्षा रूप अपने कर्तव्य के पालन में राजकुमार को देवराज इन्द्र के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा। यद्यपि वे इन्द्र के अधिकार से अश्व को मुक्त कराने में सफल नहीं हुए, तथापि उन्होंने इस साहसिक कार्य से अपने पिता दिलीप को संतुष्ट कर उनकी इच्छा पूर्ण की। तदन्तर ऋषि के उपदेश से राजा प्रजापालन का उत्तरदायित्व अपने पुत्र रघु को सौंप कर स्वयं वन में तपस्या करने के लिए चले गए।

चतुर्थ सर्ग

शासक के रूप में रघु अपने पिता दिलीप से भी श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इस सर्ग में कवि ने रघु की दिग्विजय का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए उनकी विजय यात्रा में आने वाले स्थानों, उनके पिता द्वारा किये गये युद्धों तथा उनके हाथों पराजित राजाओं तथा जातियों का ही विशद वर्णन किया है।

पंचम सर्ग

दिग्विजय के पश्चात् रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपना सारा धन यज्ञ की दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों में बाँट दिया। इस विश्वजित् यज्ञ के परिणामस्वरूप जब रघु सर्वथा निर्धन हो गये तो एक दिन ऋषि कौत्स दान मांगने के लिए पास पहुंचे। इस पर रघु कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ बने रहे परन्तु फिर भी उन्होंने धनाधीश कुबेर से ऋषि को देने के लिए आवश्यक धन की याचना की। कुबेर ने प्रसन्न होकर स्वेच्छा से रघु के कोष को स्वर्ण की प्रचुर वर्षा करके भर दिया। ऋषि कौत्स ने अपनी इच्छा पूर्ण हो जाने पर प्रसन्न होकर रघु को आशीर्वाद दिया, तदनुसार उनके अज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजकुमार अज युवा हुए तो राजा भोज ने उन्हें अपनी पुत्री इन्दुमती के स्वयंवर में आमन्त्रित किया।

षष्ठ वर्ग

इस सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का यथार्थ चित्रण है, जिसमें राजकुमारी इन्दुमती ने स्वयंवर में आए अन्य राजकुमारों की उपेक्षा करके अज के गले में पुष्पों की माला पहनाकर उन्हें अपना पति चुना।

सप्तम सर्ग

अज और इन्दुमती दोनों का विधिपूर्वक विवाह हुआ। पर जब नव विवाहित दम्पति अयोध्या को लौट रहे थे, मार्ग में स्वयंवर में निराश राजकुमारों ने बदला लेने के लिए उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु अज ने अकेले होने पर भी इन सुसंगठित राजकुमारों का वीरतापूर्वक सामना किया और उन्हें पराजित कर उनके दर्प को नष्ट कर दिया।

अष्टम सर्ग

सम्राट् रघु राजनीति से संन्यास लेकर तपोवन में चले जाते हैं। इस सर्ग में कवि ने बड़ी कुशलता से अज के राज्य तथा उनके पिता रघु के संन्यास की तुलना की है। कुछ काल के पश्चात् रघु योग-समाधि द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं और अज से दशरथ नामक पुत्र उत्पन्न होता है। अज पर भीषण विपत्ति आती है। उनकी रानी इन्दुमती पर स्वर्ग से पुष्पों की माला टूट कर गिरती है और उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। इस सर्ग के उत्तरार्द्ध में अज के विलाप का वर्णन है जो सम्पूर्ण रघुवंश में उच्चकोटि का काव्यांश माना जाता है।

नवम सर्ग

विशेष : इस सर्ग से लेकर 15 सर्ग तक रघुवंश की कथा वाल्मीकि की रामायण की कथा से बहुत मिलती है। जब युवराज दशरथ वर्महर अर्थात् शस्त्र धारण करने के योग्य हुए, तब अज ने उन्हें राजा नियुक्त किया और स्वयं "प्रायोपवेशन" अर्थात् आमरण व्रत आरम्भ कर दिया। इस सर्ग में दशरथ के आखेट का बड़ा ही भव्य वर्णन है जिससे उन्होंने भूल से किसी अन्धे मुनि के पुत्र श्रवण कुमार को मार दिया है। अपने पुत्र की मृत्यु पर दुःखी होकर अन्धे मुनि ने शाप दिया कि राजा दशरथ की भी वृद्धावस्था में पुत्र-वियोग के दुःख में मृत्यु होगी।

दशम सर्ग

दशरथ ने पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से 'पुत्रेष्टि' यज्ञ आरम्भ कर दिया। इसी अवधि में देवताओं ने भगवान् विष्णु से रावण को नष्ट करने की प्रार्थना की। अतः भगवान् विष्णु ने दशरथ के पुत्र के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेने का निश्चय किया।

एकादश सर्ग

इस सर्ग में श्रीराम के शैशव का वर्णन है। वे और लक्ष्मण दोनों भाई दुष्ट राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने के लिए मुनि विश्वामित्र के साथ जाते हैं। मार्ग में श्रीराम ताड़का राक्षसी को मारते हैं और विश्वामित्र से अनेक प्रकार के गुप्त अस्त्र प्राप्त करते हैं। विश्वामित्र के यज्ञ के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर श्रीराम राजा जनक की नगरी मिथिला की ओर प्रस्थान करते हैं और मार्ग में शाप के कारण पत्थर की बनी हुई गौतम की पत्नी अहिल्या का उद्धार करते हैं। मिथिला पहुंचकर राम शिव का विशाल धनुष तोड़ने में अपना पराक्रम दिखाकर बदले में जनक-पुत्री सीता का पाणिग्रहण करते हैं। तब राजा दशरथ को मिथिला में बुलाया जाता है और अन्य पुत्रों लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न का जनक तथा उनके भ्राता कुशध्वज की पुत्रियों के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह होता है। विवाह के बाद जब दशरथ अपने परिवार के साथ मिथिला से अयोध्या लौट रहे होते हैं, तब मार्ग में उनकी परशुराम से भेंट होती है जो अपने इष्टदेव शिव के धनुष-भंग का समाचार सुनकर आग-बबूला हो इसका बदला लेने के लिए उद्यत होते हैं। तब राम मदमत्त परशुराम के गर्व को नष्ट कर उन्हें नम्रता का पाठ पढ़ाते हैं तथा अपने विष्णु होने का प्रमाण देते हैं। इसके बाद सभी लोग सुरक्षित तथा प्रसन्न होकर अयोध्या लौटते हैं।

द्वादश सर्ग

इस सर्ग में घटनाओं की भरमार है, क्योंकि इसमें रामायण के पाँच काण्डों की घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। दशरथ ने यह जानकर कि अब वृद्धावस्था आ पहुंची है राम का यौवराज्याभिषेक करके उन्हें अयोध्या का राज-पाट सौंपना चाहा। परन्तु दशरथ की अभिलाषा पर उस समय पानी फिर गया जब कैकेयी ने दशरथ से राम का वनवास और भरत का राज्याभिषेक मांगा। राम 14 वर्ष के लिए वनवास चले गये और वहाँ रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। सुग्रीव और हनुमान जैसे वानरों की सहायता से राम ने अन्य राक्षसों सहित रावण का वध किया और अग्नि द्वारा सीता को पवित्र घोषित कर दिये जाने पर उन्होंने उसे पुनः स्वीकार कर लिया।

त्रयोदश सर्ग

इस सर्ग और विगत सर्ग (12) में इस दृष्टि से वैषम्य है कि जहाँ पिछले सर्ग में घटनाओं की भरमार है, वहाँ इस सर्ग में केवल एक ही घटना का विशद चित्रण है और यह घटना है – राम, लक्ष्मण और सीता के आकाश मार्ग से विमान द्वारा लंका से अयोध्या तक की यात्रा। वर्णन की दृष्टि से इस सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। इस सर्ग में समुद्र का, प्रयाग में गंगा-यमुना नदियों के संगम का तथा जनस्थान से तपोवनों का वर्णन अत्यन्त मोहक है और कालिदास की संवेदना जमकर खिली है।

चतुर्दश सर्ग

अयोध्या लौटकर राम अपनी विधवा माता से मिलते हैं। राम के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अयोध्या में कुछ समय के लिए फिर उत्सवों की धूम मच जाती है। परन्तु हर्ष और उल्लास की यह बहार अधिक समय तक नहीं रहती, क्योंकि राम को जब अपने गुप्तचर से ज्ञात होता है कि अयोध्या के (एक) धोबी

नागरिक को सीता के चरित्र पर, रावण के घर में उसके निवास करने के कारण सन्देह है तो उन्हें विवश होकर न चाहते हुए भी सीता का परित्याग करना पड़ता है। इस व्यवहार से सीता को अपने जीवन के प्रति गहरी अरुचि हो जाती है। परन्तु फिर भी आत्महत्या न कर इसलिए जीवित रहना चाहती है, क्योंकि उसके गर्भ में राम की वंशधर सन्तान है। वन में परित्यक्ता दुःखी सीता को वाल्मीकि सान्त्वना देते हैं और उसे अपने आश्रम में ले जाते हैं। वहाँ सीता, समय आने पर जुड़वां बालकों (लव और कुश) को जन्म देती है।

पंचदश सर्ग

बाहरवें सर्ग के समान यह सर्ग भी घटनाओं से भरा पड़ा है। सर्ग के आरम्भ में यमुना तट के निवासी ऋषि-मुनि, दुष्ट 'लवण' से अपनी रक्षा करने के लिए राम से प्रार्थना करते हैं। तब राम द्वारा नियुक्त शत्रुघ्न 'लवण' का वध कर देते हैं। अयोध्या में किसी ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु हो जाती है और उस बालक को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से राम को शूद्र होने पर भी तप करते हुए शम्बूक शूद्र की हत्या करनी पड़ती है। राम अश्वमेघ यज्ञ करते हैं जिसमें राम के पुत्र, कुश और लव उपस्थित होते हैं, जो वाल्मीकि द्वारा रचित 'राम-कथा' गाकर सुनाते हैं। वाल्मीकि और राम के आग्रह करने पर सीता प्रजा के सामने उपस्थित होती है किंतु तभी पृथ्वी माता से प्रार्थना करती है कि यदि उसका (सीता का) चरित्र निष्कलंक और पवित्र है तो वह (पृथ्वी) अपनी गोद में स्थान दे दे। सीता की इच्छा पूर्ण होती है और वह पृथ्वी की गोद में समा जाती है। इस घटना से राम अत्यंत व्यथित हो उठते हैं और वे अपने राज्य को अपने तथा भाइयों के पुत्रों में विभक्त कर साकेतधाम चले जाते हैं। राक्षसों के नाश का उनका लक्ष्य पूरा हो गया। यहीं पर कथावस्तु का मुख्य भाग सम्पूर्णता को प्राप्त करता है।

षोडश सर्ग

इस सर्ग में घटनाओं का उलटा क्रम चलता है। सूर्यवंश के यशस्वी राजाओं की उज्ज्वल परम्परा का पर्यवसान होने से सूर्यवंश का पतन आरम्भ हो जाता है। राम के पुत्र कुश, जिन्होंने अयोध्या के बदले कुशावती को अपनी राजधानी बनाया, एक दिन स्वप्न में अयोध्या नगरी की अधिष्ठात्री देवी को अपने सम्मुख खड़ा देखते हैं जो उन्हें बताती है कि कुशावती के राजधानी बन जाने से अयोध्या नगरी की दशा बहुत बुरी हो गई है। अतः कुश फिर अयोध्या को अपनी राजधानी बना लेते हैं। एक बार सरयू नदी में जल क्रीड़ा करते हुए कुश के हाथ का कंकण जल में गिरकर खो जाता है। सर्पों के राजा कुमुद कुश को कंकण लौटाते हुए अपनी बहन कुमद्वती को भी उसे अर्पित कर देते हैं।

सप्तदश सर्ग

इस सर्ग में कुमद्वती से उत्पन्न कुश के पुत्र 'अतिथि' राजा के सफल शासन का बहुत विस्तृत वृत्तान्त है।

अष्टादश सर्ग

इस सर्ग में अनेक राजाओं का उल्लेख आता है परन्तु उनके नाम को गिनाने के सिवाय उनके विषय में और कुछ नहीं कहा गया है।

एकोनविंशति सर्ग

इसमें रघुकुल के अन्तिम सम्राट् अग्निवर्ण का वर्णन है जो अत्यन्त विषयासक्त और स्त्री लम्पट होने के कारण क्षय रोग से पीड़ित होकर मर जाता है।

रघुवंश महाकाव्य की समीक्षा

रघुवंश की उपयुक्त कथावस्तु को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि महाकवि कालिदास पर आदिकवि वाल्मीकि का प्रभाव स्पष्ट है तथापि दोनों में यह अन्तर स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में सूर्यकुल के राजाओं की वंशावली का जो क्रम उल्लिखित है, रघुवंश में उसका अक्षरशः अनुकरण नहीं हुआ है, अपितु रामायण से रघुवंश का क्रम भिन्न है।¹ रघुवंश में वर्णित सूर्यकुल के राजाओं की वंशावली का क्रम रामायण की अपेक्षा वायुपुराण तथा विष्णुपुराण में अंकित क्रम से, विशेष रूप में वायुपुराण के क्रम से बहुत मेल खाता है।² वास्तव में देखा जाये तो रघुवंश में 19 सर्गों में से केवल सात सर्गों की कथा ही वाल्मीकि-रामायण की कथा के साथ-साथ चलती है। वहाँ भी हमें दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट दिखायी देता है, क्योंकि रघुवंश में कालिदास वाल्मीकि के समान न तो राम के चरित्र पर अधिक बल देते हैं और न ही कथा के इस भाग को सत्य और असत्य अथवा आर्यो तथा अनार्यो (राक्षसों) के मध्य संघर्ष की कथा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सच पूछा जाये तो कालिदास के काव्य के नायक केवल राम नहीं अपितु राम के पूर्वज, विशेष रूप से दिलीप और रघु भी प्रतीत होते हैं।

रघुवंश की रचना में कालिदास का उद्देश्य तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत करना दिखायी देता है। सम्भवतः अग्निवर्ण की कथा द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि उच्च तथा अभिजात वंश में उत्पन्न व्यक्ति भी यदि प्रेम के साथ खिलवाड़ करते हैं तो उनका भी शोचनीय अन्त होता है।

डॉक्टर कीथ³ का विचार है कि रघुवंश में कालिदास की योगदर्शन की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखायी देती है, क्योंकि उन्होंने योगदर्शन की परिभाषिक शब्दावली जैसे 'धारणा', 'वीरासन' तथा 'समाधि' का उल्लेख करने के अतिरिक्त अपने काव्य के नायकों को भी योग द्वारा शरीर परित्याग करते तथा जन्म बन्धन से मुक्त होते बताया है। उन्होंने योग के द्वारा प्राप्त होने वाली अद्भुत शक्तियों का उल्लेख भी किया है जैसे — दरवाजे के बन्द होने पर भी भीतर प्रवेश करने की शक्ति तथा सीता की योग तथा अगले जन्म में अपने पति से पुनर्मिलन की प्राप्ति की कामना आदि।

संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से रघुवंश श्रव्य (अर्थात् वह काव्य जो केवल पढ़ा और सुना ही जाता है, नाटक आदि दृश्य काव्य के समान रंगमंच पर नहीं देखा जाता) काव्य है। वह श्लोकों में बंधा प्रबन्धकाव्य (वह काव्य जिसकी कथावस्तु समग्र एवं अविच्छिन्न चलती है) और संस्कृत के महाकाव्यों की श्रेणी में अग्रगण्य है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में महाकाव्य का निम्नलिखित लक्षण दिया है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।

सद्वंशयः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।

1 कल्प-भेद से लीला-भेद एवं पूर्वज संज्ञा-भेद भी सम्भवतः रघुवंश महाकाव्य एवं वायुपुराण का आधार का कल्प रहा होगा तथा आदिकवि वाल्मीकि विरचित रामायण महाकाव्य की कथा का आधार भिन्न कल्प रहा है। कल्पभेद शंका निवारण में प्रभूत सहायक सिद्ध होता है।

2 भास के प्रतिमा नाटक में भी राम के पूर्वजों का उसी क्रम से वर्णन मिलता है जिस क्रम से रघुवंश में प्रस्तुत किया गया है।

3 कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 45।

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
 चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
 आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
 क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
 एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
 नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
 नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥
 सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
 सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
 प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
 सम्भोगविप्रलम्भौ च मृनिस्वर्गपुरध्वराः ॥
 रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
 वर्णनीया यथायोग्यं साङ्गोपाङ्गो अमी इह ॥ (साहित्यदर्पण 6, 315–342)

महाकाव्य वह रचना है जो सर्गों में विभक्त होती है। इसका नायक देवता अथवा उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय होता है जिसमें धीरोदात्त गुण होते हैं। कहीं-कहीं महाकाव्य में एक वंश में उत्पन्न सत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर, शान्त इनमें से कोई एक रस महाकाव्य का अङ्गी अर्थात् प्रधान रस होता है तथा अन्य रस इसमें गौण अर्थात् अप्रधान होते हैं। इसमें सब नाट्य-सन्धियाँ रहती हैं। इसकी मुख्य कथा या तो ऐतिहासिक होती है अथवा सज्जनकुलीन व्यक्ति से संबंधित कोई प्रसिद्ध कथा होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – इस चतुर्वर्ग में से कोई एक महाकाव्य का फल होता है। इसके आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या इसमें वर्णनीय वस्तु का निर्देश होता है। इसमें प्रसङ्गानुसार कहीं दुष्टों की निन्दा और कहीं सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, और न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है। किन्तु सर्ग के अन्तिम गद्य का छन्द पूरे सर्ग में प्रयुक्त एक ही छन्द से भिन्न होता है। कहीं-कहीं एक सर्ग में एक छन्द के प्रयोग की अपेक्षा अनेक छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग में आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें जहाँ-जहाँ आवश्यक हो, वहाँ-वहाँ संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, (छह) ऋतुएँ, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र का जन्म, अभ्युदय (उन्नति), ऐश्वर्य आदि का यथोचित साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये।

यदि हम महाकाव्य की उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करके देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाकाव्य की परिभाषा में दो भाग हैं – अङ्गी अर्थात् प्रमुख भाग तथा अङ्ग अर्थात् सहायक या गौण भाग। प्रथम अर्थात् प्रमुख भाग में महाकाव्य के उन आवश्यक गुणों का सन्निवेश होता है जिनके अभाव में काव्य को महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इस प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि साधारणतया काव्य रचना का प्रयोजन जीवन का उल्लासपूर्ण चित्रण माना जाता है। कवि की कृति तभी महान हो सकती है जबकि उसमें मानव के विस्तीर्ण और नानाविध जीवन का उसके पूर्णरूप में समावेश

हो। मानव-जीवन को उसकी समग्रता में जानने के लिए तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं – मानव का व्यक्तित्व, समाज के ढाँचे में उसकी स्थिति, उसका उत्तरदायित्व तथा उसके चारों ओर फैली विशाल प्रकृति से उसका सम्बन्ध। इसीलिए तो महाकाव्य की परिभाषा में एक और नायक, मनोभाव, कथा, सूर्योदय, संध्या, ऋतुओं तथा पर्वतों तथा दूसरी ओर नगरों, विवाहों, युद्धों आदि के वर्णन के विषय में नियमों का विधान किया गया है जिससे मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्र विविधता तथा विस्तार के साथ महाकाव्य में उतर सके।

महाकाव्य की परिभाषा का दूसरा भाग उसके बाह्य आकार या रूप, जो प्रथम भाग की अपेक्षा गौण है, सम्बद्ध है, जैसे – महाकाव्यों में सर्गों की संख्या का निर्धारण तथा एक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान आदि। महाकाव्य के विषय में आचार्य दण्डी का कथन समीचीन है कि—

“न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति” (काव्यादर्श 1.20)

(अर्थात् महाकाव्य में उपर्युक्त परिभाषा में से कुछ अंगों की कमी भी हो तो भी उसमें दोष नहीं माना जाता।)

इस प्रकार दण्डी के मत में, महाकाव्य के उपर्युक्त नियमों में से कुछ नियमों की कमी भी रह जाये तो भी वह ग्राह्य है, उसमें दोष नहीं आता।

रघुवंश में सर्वप्रथम अद्भुत बात यह है कि इस काव्य के पात्रों में से हम किसी एक को इसका नायक नहीं कह सकते। प्रत्युत वैवस्वत मनु के वंश में जन्म लेने वाले अनेक प्रतापी सम्राट् इसके नायक हैं। दिलीप, रघु, राम जैसे यशस्वी नरेशों में धीरोदात्त नायक के सभी गुण जैसे – साहस, संयम, औदार्य आदि विद्यमान हैं।

रघुवंश की कथा सुप्रसिद्ध है तथा रामायण और पुराणों से ग्रहण की गई है। यह कथा अत्यन्त रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है, क्योंकि इसमें स्त्री पुरुष सभी प्रकार के पात्रों के जीवन के विविध रूपों का चित्रण करते हुए उनके उत्थान और पतन के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। जिस राजवंश ने अनेक महान् और आदर्श राजाओं को जन्म दिया, उसी के अन्तिम उत्तराधिकारी को बहुत दुर्बल और विलासी चित्रित किया गया है।

इस काव्य का अंगी अर्थात् प्रधान रस तो शृंगार है परन्तु अन्य रसों का – जैसे रघु के दिग्विजय के प्रसंग में वीर, अजविलाप में करुण, रघु के संन्यास में शान्त तथा सरयू नदी के जल में से कुमुद के आविर्भाव में अद्भुत रस का प्रयोग भी प्रशंसनीय तथा प्रभावोत्पादक है। इस प्रसंग में ‘राइडर’ महोदय की निम्नलिखित उक्ति ध्यान देने योग्य है—

हमें रघुवंश को ऐसा काव्य समझना चाहिये जिसमें नैसर्गिक कथा की अपेक्षा उसमें आई अकेली घटनाओं का पाठक पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

रघुवंश में प्रकृति तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों के वर्णनों की प्रचुरता है। जैसे – 13वें सर्ग में समुद्र तथा प्रयाग स्नान में गंगा, यमुना नदियों के संगम का वर्णन, चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय, सातवें सर्ग में इन्दुमती का स्वयंवर, दसवें सर्ग में आखेट विहार तथा 16वें सर्ग में उजड़ी हुई अयोध्या के वर्णन विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं।

इस महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होता है जिसमें कवि जगत् के माता-पिता भगवान् शिव और भगवती पार्वती को प्रणाम करके उनके प्रति अपनी भक्ति व्यक्त करता है। जैसा कि पहले भी

उल्लेख किया जा चुका है, रघुवंश के 19 सर्ग हैं जिनमें कवि ने एक पूरे सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया है, केवल सर्ग के अन्तिम श्लोक में परिवर्तन के उद्देश्य से भिन्न छन्द का प्रयोग किया है। इन सर्गों के अन्त में परिवर्तन के उद्देश्य से प्रयुक्त कालिदास के प्रिय छन्द हैं – अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, मालिनी, वसन्ततिलका तथा पुष्पिताग्रा। सम्पूर्ण महाकाव्य में भाषा मधुर तथा सरल है। यह विविध अलंकारों से विभूषित है जिनमें 'उपमा' अलंकार प्रमुख है। कालिदास में भाषा को अलंकारों से लादने की प्रवृत्ति नहीं है इसके विपरीत वे शब्दालंकारों का तो बहुत कम प्रयोग करते हैं और अर्थालंकारों का भी। अलंकारों का भी अलंकारों के प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं अपितु रस और भाव-पोषण के लिए ही प्रयोग करते हैं। कालिदास की भाषा काव्य के गुणों – 'प्रसाद' और 'माधुर्य' से सुशोभित है और इस कारण से उनकी काव्यशैली 'वैदर्भी' मानी जाती है।

इन विशिष्ट गुणों के कारण ही रघुवंश को महाकाव्य का एक आदर्श उदाहरण माना जाता है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संस्कृत के आलोचकों ने इसके मूल्य को परखते हुए इसकी प्रशस्ति में यहाँ तक कह दिया है कि—

“क इह रघुकारे न रमते।”

अर्थात् कौन है जो रघुकार – रघुवंश के लेखक महाकवि कालिदास द्वारा रचित महाकाव्य में आनन्द से झूम नहीं उठता?

सहायक ग्रन्थ :

- (1) 'महाकवि कालिदास' – वासुदेव विष्णु मिराशी
- (2) 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' – डॉ. ए.बी. कीथ
- (3) 'महाकवि कालिदास' (अंग्रेजी) – के.सी. रामास्वामी शास्त्री
- (4) 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (अंग्रेजी) – डॉ. एस.के. डे
- (5) 'बिब्लियोग्राफी ऑफ कालिदास' – डॉ. एस.पी. नारंग
- (6) 'कालिदास की लालित्य योजना' – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
- (7) 'महाकवि कालिदास' – रमाशंकर त्रिपाठी
- (8) 'संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास' – कृष्ण चैतन्य (हिन्दी रूपान्तर : रामकुमार राय)

संभावित प्रश्न

प्रश्न-1. रघुवंश महाकाव्य है अथवा नहीं, संक्षेप में सप्रमाण उत्तर दीजिए।

प्रश्न-2. रघुवंश महाकाव्य को दृष्टि में रखते हुए महाकवि कालिदास की शैली की विवेचना 15 पंक्तियों में करें।

प्रश्न-3. निम्नलिखित में से एक श्लोक का अनुवाद करते हुए यह बतायें कि श्लोक किस ग्रन्थ से लिया गया है और इसके लेखक कौन हैं;

(क) सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥

(ख) आदो नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
स्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥

प्रश्न-4. महाराज विक्रमादित्य के द्वारा लंका की राज्य सभा में नर्तकी के समक्ष प्रस्तुत समस्या नीचे दी जा रही है, उसकी पूर्ति कालिदास के शब्दों में करते हुए अनुवाद करे ।

‘कमले कमलोत्पतिः श्रूयते न तु दृश्यते ।’

महाकाव्य रघुवंश-प्रथम सर्ग (1-10) : मूल पाठ, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ*

(पाठ एक से आगे का भाग)

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। 1 ।।

अन्वय – (अहं कालिदासः) वागर्थप्रतिपत्तये वागर्थाविव सम्पृक्तौ जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे ।

अनुवाद – शब्द और अर्थ को भली प्रकार समझने के लिए मैं (कालिदास) शब्द और अर्थ की तरह नित्य सम्बद्ध (एकरूप) तथा संसार के माता-पिता पार्वती तथा भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ ।

टिप्पणियाँ – संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तुनिर्देशपूर्वक होना चाहिये— “आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।” अतः रघुवंश महाकाव्य भगवान् शिव तथा भगवती पार्वती (जगत् के माता-पिता) की वन्दना के साथ प्रारम्भ होता है— “ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन ग्रन्थपरिसमाप्तिकामः कविः मङ्गलाचरणम् करोति ।”

सम्पृक्तौ – सम् उपसर्ग+धातु पृच्+क्त, परस्पर जुड़े हुए, नित्य (अर्थात् अविच्छिद्य रूप से) सम्बद्ध ।

वागर्थाविव – शब्द और उसके अर्थ के समान । वाक् च अर्थश्च वागर्थौ तौ इव । जिस प्रकार शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध है इसी प्रकार से भगवान् शंकर एवं भगवती पार्वती भी नित्य सम्बद्ध हैं ।

शिव पार्वती के प्रतीक के माध्यम से कालिदास ने पुरुष-नारी के अभिन्न सम्बन्ध की महती कल्पना को उजागर किया है। सचमुच कालिदास उस भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि व्याख्याता कवि हैं, जो उस अभिन्न इकाई को खोज पाने में समर्थ हुई है जो व्यक्ति-व्यक्ति के देहात्मक द्वैत को इंगित करने वाली इकाई से कहीं अधिक गहरी और अर्थवान् है। यहाँ हमें उस असाधारण पूर्णता की विशद अवधारणा से साक्षात्कार होता है जो व्यक्तिगत अहम् की सीमाओं को लांघ कर एक दूसरे में अपनी सत्यता को प्राप्त करती है। ‘अर्धाङ्ग’ और ‘अर्धनारीश्वर’ की जिस कल्पना ने भारतीय कला में मूर्तता प्राप्त की, वह इसी सत्य का प्रमाण है। अन्य स्थलों पर कालिदास कहते हैं—

स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।

प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ।। (कुमारसम्भव 2.17)

इसी अवधारणा के समानान्तर वैयाकरण-चिन्तक भर्तृहरि के ग्रन्थ वाक्यपदीयम् में ‘शब्दब्रह्म’ की दार्शनिक कल्पना हुई जिसने शब्द और अर्थ की अद्वैतता पर बल दिया ।

टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार ‘वागर्थाविव’ एक शब्द है। इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्न उद्धरण भी अपनी टीका में अंकित किया है—

“इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्चेति वक्तव्यम् ।” अव्ययीभाव समास, सम्पृक्तौ का विशेषण ।

वागर्थप्रतिपत्तये – शब्द और उसके अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए । प्रतिपत्ति का अर्थ है— सम्यक् ज्ञान । प्रति उपसर्ग+धातु पद्+क्तिन् । वाक् च अर्थश्च इति वागर्थौ (द्वन्द्व समास) वागर्थयोः प्रतिपत्तिः इति वागर्थप्रतिपत्तिः तस्यै (षष्ठी तत्पुरुष) ।

* **महत्त्वपूर्ण नोट** : रघुवंश के प्रथम सर्ग के मूल पाठ में केवल श्लोक हैं और वे सभी (1-95) श्लोक संख्या (उदाहरणतया ।। 1 ।।) के साथ बोल्ड प्रिन्ट में दिये गये हैं। प्रत्येक श्लोक के बाद उसका अन्वय, अनुवाद और टिप्पणियाँ दी गई हैं।

पितरौ – माता च पिता च पितरौ—(एकशेषद्वन्द्व)। सूत्र है— “पिता माता” (मात्रा सहोक्तः पिता वा शिष्यते) अर्थात् माता शब्द के साथ पितृ शब्द आये तो विकल्प से केवल पिता शेष रहता है। यहाँ पितरौ शब्द इस तथ्य का सूचक है कि शिव—पार्वती समस्त संसार के जनक, परम कारुणिक तथा इष्ट वस्तुओं के प्रदाता हैं (मल्लिनाथ)। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। इस श्लोक में शिव—शक्ति, श्यामतेज एवं गौरतेज की पारमार्थिक अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। शक्ति के बिना शक्तिमान् की कल्पना भी असंभव है।— “शिवः शक्त्या युक्तो प्रभवति यदि स्पन्दितुमपि” (सौंदर्यलहरी)।

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।

तितीर्षुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।2।।

अन्वय – सूर्यप्रभवः वंशः क्व, अल्पविषया (मम) मतिः च क्व, (अहं) दुस्तरं सागरं मोहात् उडुपेन तितीर्षुः अस्मि।

अनुवाद – कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुकुल) और कहाँ सीमित ज्ञान वाली मेरी बुद्धि (दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है)। तथापि मैं उसे (रघुकुल को) मोहवश (मूर्खतावश) उसी प्रकार पार करना (वर्णन करना) चाहता हूँ जैसे कोई छोटी डोंगी (नौका) से दुस्तर (कठिनता से पार किये जाने योग्य) समुद्र को पार कना चाहता हो।

टिप्पणियाँ :-

क्व – क्व शब्द का दो बार प्रयोग इस तथ्य को प्रकट करता है कि भगवान सूर्य से उत्पन्न रघुवंश (की महत्ता) एवं महाकवि कालिदास की प्रतिभा में महान् अन्तर है। “द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयथः”। (मल्लिनाथ)

सूर्यप्रभव – सूर्यः प्रभवः यस्य इति सूर्यप्रभवः (बहुव्रीहि), वंश का विशेषण। वह वंश जिसका जन्म (आरम्भ) सूर्य से हुआ है अर्थात् सूर्यवंश (रघुवंश)।

अल्पविषया – अल्पः विषय यस्या सा अल्पविषया (बहुव्रीहि), मतिः का विशेषण। सीमित है (ज्ञान का) विषय जिसका ऐसी मेरी बुद्धि, सीमित ज्ञान रखने वाली मेरी बुद्धि। देखिये— “कवि न होहूँ न चतुर कहाऊ”। (तुलसीदास)

तितीर्षुः – तरितुं इच्छुः, (धातु तृ+सन्+उ) तैरने अर्थात् पार करने की इच्छा करने वाला मैं (कालिदास)।

दुस्तरम् – दुःखेन तरितुं शक्यम् ‘सागर’ का विशेषण। वह समुद्र जिसे पार करना बड़ा कठिन है, कष्ट से पार करने के योग्य। यहाँ दुस्तर सागर से अभिप्राय रघुवंश से है।

उडुपेन – छोटी नौका, डोंगी। यह स्पष्ट संकेत अल्पविषया कवि—बुद्धि से है।

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्यामुपहास्यताम्।

प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।।3।।

अन्वय – मन्दः कवियशः। प्रार्थी प्रांशुलभ्ये फले लोभाद् उद्बाहुः वामन इव उपहास्यतां गमिष्यामि।

अनुवाद – लम्बा मनुष्य ही जिस फल को प्राप्त कर सकता है उसे पाने के लोभ से यदि एक बौना (वामन) अपना हाथ ऊपर उठाये तो उसकी हंसी ही होगी। उसी प्रकार मन्द बुद्धि होने पर भी (महान्) कवियों का यह चाहने वाला मैं (भी) उपहास का पात्र ही बनूंगा।

टिप्पणियाँ :-

कवियशः प्रार्थी — कवीनां यशः कवियशः तस्य प्रार्थी (तत्पुरुष)। कहा गया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां वशः काये जरामरणजं भयम्॥

प्रांशुलभ्ये — प्रांशुना लभ्ये (तत्पुरुष), 'फले' का विशेषण। वह फल जिसे लम्बे कद का (प्रांशु) मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। लम्बे मनुष्य द्वारा ही प्राप्य फल।

उद्बाहुः — उद्गतो बाहुः यस्य सः उद्बाहुः (बहुव्रीहि)।

वामनः — बौना, छोटे कद वाला मनुष्य।

लोभात् — लोभ के कारण। 'हेतौ' से हेतु के कारण पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग।

उपहास्यताम् — उप उपसर्ग, धातु हस्+ण्यत्+तल्। उपहास की पात्रता।

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥१४॥

अन्वय — अथवा पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे अस्मिन् वंशे वज्रसमुत्कीर्णे मणौ सूत्रस्य इव मे गतिः अस्तिः।

अनुवाद — (यद्यपि सूर्यवंश का वर्णन कर पाना मेरे लिए कठिन है तथापि) प्राचीन मनीषियों (वाल्मीकि आदि कवियों) ने इस (कुल) का वर्णन करके इसमें वाणी का (प्रवेश) का द्वार खोल दिया है। अतः इस कार्य में मेरा प्रवेश (गति) उसी प्रकार संभव हो गया है जिस प्रकार हीरे की सूई से छिदी हुई मणि में धागा आसानी से प्रविष्ट हो जाता है।

टिप्पणियाँ :-

पूर्वसूरिभिः — 'सूरि' का अर्थ है नूतन विचारों का प्रवर्तक, कवि। प्राचीन कवियों— महर्षि वाल्मीकि आदि के द्वारा।

कृतवाग्द्वारे — वाक् एव द्वारम् वाग्द्वारम् (कर्मधारय), कृतं वाग्द्वारं यस्य सः कृतवाग्द्वारः (बहुव्रीहि), तस्मिन् कृतवाग्द्वारे। 'वंशे' का विशेषण; वह सूर्यवंश जिसका वाणीरूप द्वार वाल्मीकि ने रामायण प्रबंध की रचना करके आने वाले कवियों के लिए खोल दिया है। अर्थात् वह सूर्यवंश जिसमें प्रवेश के लिये वाल्मीकि रामायण काव्यद्वार का कार्य करता है। ठीक यही दशा महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित महाभारत की भी है। उसके माध्यम से मेरे (कालिदास) जैसे मन्द बुद्धि कवि का भी उसमें प्रवेश करना सरल हो गया है।

वज्रसमुत्कीर्णे — वज्रेण समुत्कीर्णः (सम् उपसर्ग+उत् उपसर्ग+धातुकृ+क्त) वज्रसमुत्कीर्णः (तत्पुरुष), तस्मिन्, वज्रसमुत्कीर्णे। 'मणौ' का विशेषण। वह मणि जिसमें हीरे की कनी से छिद्र कर दिया गया है।

मणि बड़ी कठोर होती है। परन्तु जब उसमें छिद्र कर दिया जाता है तो कोमल धागा भी उसमें आसानी से पिरोया जा सकता है। उसी प्रकार सूर्यवंश की महिमा का वर्णन करना भी कालिदास के लिए अनबिंधमणि में धागा डालने के समान बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु जैसे छिद्र हो जाने से मणि में धागा पिरोना सरल हो जाता है उसी प्रकार वाल्मीकि द्वारा सूर्यकुल पर रामायण काव्य की रचना कर देने से इस कठिन काम को भी कर देना अब कालिदास के लिए सरल हो गया है। कवि कालिदास की

सूर्य कुल के नृपतियों पर काव्य रचना करने की उच्चाभिलाषा अब फलोन्मुखी हो सकती है क्योंकि आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर उसके लिए मार्गदर्शन कर दिया है। कालिदास के ये वचन उनकी नम्रता तथा शालीनता के सूचक हैं कि महाकवि की क्षमता होने पर भी उन्हें तनिक भी अभिमान नहीं छू गया है। कहा भी गया है—

विद्या ददाति विनयम्, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद् धर्मस्ततः सुखम्॥

सूत्रस्य — तागे (धागा, डोरी) के (समान)

गतिः — गम्+क्तिन् (प्रवेश)

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।

आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्।।5।।

अन्वय — सः अहम् आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम् आसमुद्रक्षितीशानाम् आनाकरथवर्त्मनाम् (रघुणाम् अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवाद — वह (मन्दमति) मैं (कालिदास)— जन्म से ही शुद्ध, फल प्राप्ति तथा कर्म में लीन, समुद्रपर्यन्त विस्तृत पृथ्वी के शासक तथा स्वर्ग तक गये हुए रथ के मार्ग वाले (रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा)।

टिप्पणियाँ :-

विशेष — 5 से 9 तक पाँच श्लोक इकट्ठे पढ़ने चाहिये क्योंकि वे परस्पर सम्बद्ध हैं और इन सबके मेल से एक बड़ा वाक्य बन जाता है। इसमें अपने—अप अकेला पद्य अपरिपूर्ण है और उसे अन्वय के लिए अन्य पद्यों की आकांक्षा (अपेक्षा, आवश्यकता) है। संस्कृत में अकेला श्लोक जब अपने में परिपूर्ण होता है और अन्य श्लोक की अपेक्षा नहीं रखता तो ऐसे श्लोक को मुक्तक कहते हैं। परन्तु परस्पर सापेक्ष दो श्लोकों के समूह को युग्मक कहते हैं। परस्पर सापेक्ष तीन श्लोकों के समूह को 'सन्दानितक' तथा ऐसे ही चार श्लोकों के समूह को 'कपालक' तथा पाँच श्लोकों के समूह को 'कुलक' कहते हैं। यहाँ श्लोक संख्या 5 "सोऽहमाजन्म" — से लेकर श्लोक संख्या 9 "रघूणामन्वयं वक्ष्ये" तक पाँच श्लोकों का समूह 'कुलक' है। पहले चार श्लोक पाँचवें श्लोक "रघूणाम..." से सम्बद्ध हैं। अतः ये पाँचों श्लोक अर्थ को समझने के लिए इकट्ठे ही पढ़े जाने चाहिये। इसका अन्वय इस प्रकार होगा। "सोऽहम् आजन्मशुद्धानाम् रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये" यहाँ 'रघूणाम्' विशेष्य पद है और "आजन्मशुद्धानाम्", "आफलोदयकर्मणाम्" आदि षष्ठी बहुवचनान्त पद 'रघूणाम्' के विशेषण है तथा 'रघूणाम्' इनका विशेष्य है।

आजन्मशुद्धानाम् — आजन्मनः ('आङ् मर्यादाभिविध्योः'। अव्ययीभाव समास) शुद्धाः ये, तेषाम्— आजन्मशुद्धानाम् (सुप्सुपा से समास)। अर्थ है — जन्म से लेकर शुद्ध। सूर्यवंश के सम्राट् जन्म से शुद्ध होते थे क्योंकि उनके गर्भाधान आदि शास्त्रविहित संस्कारों का विधिवत् समुचित काल में अनुष्ठान किया जाता था। संस्कारों से पवित्र होकर उनका जन्म होता था। अतः वे आजन्म शुद्ध होते थे। देखिये— "उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः। तीर्थोदकञ्चं वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥" (भवभूति—विरचित 'उत्तररामचरितम्')

आफलोदयकर्मणाम् – फलस्य उदयः, फलोदयः (षष्ठी तत्पुरुष), आ फलोदयात् इति आफलोदयम् (अव्ययीभाव), आफलोदयं कर्म येषां ते, आफलोदयकर्मणाः (बहुव्रीहि), तेषाम्— आफलोदयकर्मणाम्।

वे रघुवंश सम्राट् जो तब तक कार्य करने में जुटे रहते थे जब तक सफलता प्राप्त नहीं होती थी। वे प्रारब्ध या अंगीकृत कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते थे, कभी भी अधूरा नहीं छोड़ते थे। शब्दार्थ है— फल (सफलता) के उदय (प्राप्ति) तक काम करने वाले। देखिये— **“प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्तिः”** (नीतिशतक)।

आनाकरथवर्त्मनाम् – न के कं अकं (सुख का अभाव), न अकं यत्र स नाकः (सुख के अभाव (दुःख) का अभाव=स्वर्ग यहाँ न का अन् में परिवर्तन नहीं हुआ है। आनांक रथवर्त्म येषां (बहुव्रीहि) तेषाम्।

कालिदास के नायक अत्यन्त पराक्रमी तथा वीर है। स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं, विशेष रूप से इन्द्र को भी उनसे असुरों के नाश में सहायता लेनी पड़ती है। अतः वे बहुधा देवलोक में आते जाते हैं। उनके रथ का मार्ग भूलोक ही नहीं, देवलोक तक फैला है। महाराज दशरथ की कथा तो लोकविश्रुत है। वे देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र के निमन्त्रण पर स्वर्ग से युद्ध के लिए गये। साथ में उनकी रानी कैकेयी भी गयी। वहाँ रथ के पहिये की कील के गिर जाने पर उसने अपने हाथ (अंगुलियों) से रथ की रक्षा की और दो (राम का वनवास और भरत को राज्य प्राप्ति) वर प्राप्त किये।

नाक—स्वर्ग, वर्त्मन्—मार्ग। जिनके रथ का मार्ग स्वर्ग तक गया है।

आसमुद्रक्षितीशानाम् – आसमुद्रात् इति आसमुद्रम् (अव्ययीवभाव) आसमुद्रम्, क्षितीशाः इति आसमुद्रक्षितीशाः, तेषाम्। अर्थ है— समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के राजाओं का। समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर शासन राजाओं का आदर्श होता था। ऐतरेय ब्राह्मण (8, 41) कहता है कि उत्तम राजा वह है जिसके राज्य की सीमा पृथ्वी की प्राकृतिक सीमाओं तक व्याप्त है। **क्षितीशानाम्=क्षिति (पृथ्वी) + ईश (स्वामी) पृथ्वी के स्वामी, उनका।**

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।

यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।।6।।।

अन्वय – यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् (रघूणां अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवाद – विधिपूर्वक अग्नि में हवन करने वाले (यज्ञ करने वाले), याचकों की इच्छानुसार उन्हें (धनादि) देने वाले, अपराध के अनुसार (दुष्टों को) दण्ड देने वाले अथवा ठीक समय पर जागने वाले (प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में जागने वाले तथा समय आने पर सतत जागरूक रहने वाले) – रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियाँ :-

यथाविधि – विधिमतिक्रम्य (अव्ययीभाव)। यथाविधि हुताः अग्नयः यैः ते (बहुव्रीहि) तेषाम्। समास सूत्र— ‘सुप्सुपा’। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जिन्होंने अग्नि में हवन किया है। शास्त्रों के अनुसार पवित्र अग्नियां दो प्रकार की हैं— **श्रौत**, जिन्हें वैतान या त्रेता भी कहते हैं, और **स्मार्त**, जिन्हें गृह्य या आवसथ्य भी कहते हैं। इनमें श्रोत अग्नि के तीन रूप हैं— गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण। परन्तु स्मार्त अग्नि एक ही है। मनु कहते हैं— **“पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नि त्रेता**

गरीयसी। जब अग्नि का बहुवचन में प्रयोग होता है तब उससे तीन श्रोत अग्नियों का ग्रहण होता है। रघुवंशी राजा परम आस्तिक थे और वे श्रोत अग्नियों का विधिवत् पूजन और हवन करते थे।

यथाकामार्चितार्थिनाम् — काममनतिक्रम्य इति यथाकामम् यथाकामम् अर्चिताः अर्थिनः यैः ते (बहुव्रीहि), तेषाम्। रघुकुल के राजा याचकों को उनकी इच्छानुसार दान देते थे। देखिये— **“यद्यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य कि दीयताम्।”** (स्वप्नवासवदत्तम्)।

यथापराधदण्डानां — अपराधमनतिक्रम्य इति यथापराधम्, यथापराधम् दण्डो येषां ते यथापराधदण्डाः (बहुव्रीहि), तेषाम्। अपराध के अनुसार अपराधी को दण्ड देने वाले। इसमें राजा के कर्तव्य का उल्लेख है कि उसे वेदों तथा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित नियमों और कानूनों को प्रजा में पूरी तरह लागू करना चाहिये। शास्त्रोक्त विधि से प्रजा का पालन करते हुए उसे अपराधी को दण्ड देना चाहिये। शास्त्र राजा को दण्ड देने का अधिकार देता है तथा इसी कारण से उसे दण्डधर भी कहते हैं। परन्तु दण्ड के प्रयोग में राजा को सदा सतर्क रहना चाहिये। राजा की जागरूकता और सफलता इस बात में है कि उसके राज्य में कोई भी अपराधी दण्ड से बच न पाए, और अपराधी को अपने अपराध के अनुसार ही दण्ड मिले। रघुवंशी राजा सफल शासक थे, क्योंकि उनके राज्य में अपराधी दण्ड से बच नहीं पाता था और उसे सदा अपराध के अनुसार दण्ड मिलता था।

यथाकालप्रबोधिनाम् — कालमनतिक्रम्य इति यथाकालम्, यथाकालं प्रबोधिनाम् इति यथाकालप्रबोधिनाम्— यथा समय जागते थे। शास्त्रानुसार जागरण का समय ब्राह्ममुहूर्त है। देखिये—

“उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।

हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्य्यं प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥”

तथा— “ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथौ चानुचिन्तयेत्।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥”

विशेष — प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त चार विशेषण सूर्यवंशी राजाओं की चरित्र की चार विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं— वे अग्नि में आहूति डालकर देवताओं को संतुष्ट करते हैं (और वे देवभक्त थे) वे अतिथि पूजा कर मनुष्यों को प्रसन्न करते थे। वे न्याय कर प्रजा में आन्तरिक शान्ति स्थिर रखते थे और वे सदा ब्राह्ममुहूर्त में ही जागते थे।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।

यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥७॥

अन्वय — श्लोकानुसार ही।

अनुवाद — त्याग (दान) के लिए ही धन का संग्रह करने वाले, सत्य के लिए कम बोलने वाले (कहीं मुख से असत्य न निकल पड़े, इसलिए) अपने यश के लिए (न कि दूसरे राज्य को छीनने के लिए) विजय प्राप्त करने की इच्छा करने वाले, संतानोत्पत्ति मात्र के लिए (न हि कामोपभोग के लिए) गृहस्थ बनने वाले (विवाह करने वाले) रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियाँ :-

त्यागाय — वे दूसरों को देने के लिए ही धन का संग्रह करते थे। कुछ ही लोगों की जेब में सारा धन एकत्रित न हो, इस उद्देश्य से प्राचीन भारत में समाज कल्याण के चिन्तकों ने दान की महिमा का बढ़-चढ़ कर वर्णन किया है। दान से धन की शोभा मानी गई है। दान से स्वर्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार दान देते रहने से धन एक स्थान पर एकत्रित नहीं होता और निर्धनों को धन मिलने से समाज में

शान्ति बनी रहती है। संन्यासाश्रम में प्रवेश करते समय व्यक्ति के लिए 'सर्ववेदस्' यज्ञ करना आवश्यक था, जिसमें उसे अपना सारा सर्वस्व (सम्पत्ति) 'सर्वस्वदान' के रूप में दूसरों को देना पड़ता था। त्याग भावना के लिए देखें "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" (ईशावास्योपनिषद्)। सूर्यवंशी राजा भी इस परम्परा का पालन करते थे। वे धन का स्वयं भोग न कर दूसरों को दान में देकर प्रसन्न होते थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ "चतुर्थी तदर्थाध बलिहितसुखरक्षितैः" सूत्र से चतुर्थी का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

सम्भृतार्थानां – सम्भृतः (सम उपसर्ग+धातु भृ+क्त) अर्थः यैस्तेः सम्भृतार्थाः (बहुव्रीहि), तेषाम्। जिन्होंने धन एकत्रित किया है (त्यागाय)।

यशसे विजिगीषुणाम् – विजेतुम् इच्छूनाम्। वि उपसर्ग+जि धातु+सन्+उ, षष्ठी बहुवचन। वे यशप्राप्ति के लिए विजय की कामना करते थे, दूसरों का राज्य हड़पने के लिए नहीं। प्राचीन भारत में युद्ध सदा विरोधी राजाओं के राज्य को हड़पने के लिए नहीं किये जाते थे। परन्तु कई बार युद्ध करने वाले का उद्देश्य विरोधी राजाओं पर अपने शौर्य पराक्रम का प्रभुत्व जमाकर अपना यश और नाम फैलाना ही होता था। सूर्यवंशी राजा भी यश के लिए युद्ध करते थे। देखिये— "जीतो मनहि सुनीय अस रामचन्द्र के राज" (तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस')।

प्रजायै गृहमेधिनाम् – गृह+मेध्+णिनि। गृह का अर्थ है पत्नी— "दारेष्वपि गृहा" (अमरकोश) तथा "जाया च गृहिणी गृहम्" (हलायुध)। गृहमेधिन् का अर्थ है— गृहस्थी, विवाह करके गृहस्थाश्रम में निवास करने वाला। मल्लिनाथ ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है— गृहैः दारैः (पत्नियों से) मेधन्ते (मिलते हैं) इति गृहमेधि नः, तेषाम्।

विशेष – ऐसा माना जाता है कि जन्म से लेकर ही प्रत्येक हिंदू को तीन ऋण चुकाने होते हैं— (1) देवऋण (देवताओं का ऋण), (2) पितृऋण (पितरों का ऋण) और (3) ऋषिऋण (ऋषियों का ऋण)। अग्नि में विभिन्न देवताओं के नाम से आहुति डालकर देवताओं का ऋण चुकता किया जाता है, पितरों को जल अर्पण करके तथा अनुकूल पत्नी से पुत्र को उत्पन्न करके पितरों का ऋण उतारा जाता है। प्रतिदिन स्वाध्याय (वेदों या शास्त्रों का अध्ययन) करने से ऋषियों का ऋण पूरा होता है।

इन विशेषणों से रघुवंशियों का परोपकारित्व, सत्यवचनत्व, यशःपरत्व, पूर्वजों की शुद्धता दर्शाना अपेक्षित है। (मल्लिनाथ)

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।8।।

अन्वय – शैशवे अभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् वार्द्धके मुनिवृत्तिनाम्। अन्ते योगेन तनुत्यजाम् (रघूणां अन्वयं वक्ष्ये)।

अनुवाद – बाल्यकाल में (विविध) विद्याओं को अभ्यास करने वाले, यौवन काल में विषयभागों की इच्छा करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों का—सा जीवन बिताने वाले तथा अन्त में योग (समाधि) द्वारा शरीर का त्याग करने वाले—रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा।

टिप्पणियाँ :-

शैशवे – प्रस्तुत श्लोक में जीवन की चार दशाओं अर्थात् चार आश्रमों का निर्देश किया गया है। सूर्यवंशी राजा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास का शास्त्रोक्त रीति से पालन करते थे। हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार इन चार आश्रमों का पालन पुरुष का सबसे बड़ा परमार्थ माना जाता है। जीवन की प्रथम अवस्था ब्रह्मचर्य आश्रम है जो विद्यार्थी जीवन की दशा है, जिसमें विद्या का अध्ययन कर

जीवन की आगामी आश्रमों के लिए तैयार किया जाता है। इस आश्रम में बालक प्रायः अपने गुरु के पास रहता है, घर में नहीं। जीवन की द्वितीया अवस्था है गृहस्थाश्रम अर्थात् वैवाहिक जीवन की दशा। विद्या समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी अनुकूल कन्या से विवाह कर लौकिक दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करता है। इस आश्रम में वह धर्म का उल्लंघन न करते हुए 'अर्थ' और 'काम' को प्रमुख रूप से उपार्जित करता है। जीवन की तीसरी दशा वानप्रस्थ आश्रम है, जिसमें पुरुष वनवासी ऋषि का जीवन व्यतीत करता है। यह आश्रम वह भूमि है जिसके आधार पर साधक अपने को अंतिम और पूर्ण त्याग के लिए तैयार करता है। इस आश्रम में धीरे-धीरे अर्थ और काम से विरक्त होता हुआ पूर्ण रूप से धर्म का ही अनुष्ठान करता है। जीवन की अन्तिम दशा 'संन्यासाश्रम' है। इस आश्रम में पुरुष परिवार व समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। अब उसका एकमात्र उद्देश्य 'मोक्ष' (अर्थात् संसार के बन्धन या जन्म मरण के चक्र से छूट जाना) रह जाता है। आश्रम व्यवस्था हिंदुओं की आदर्श जीवन पद्धति है। सूर्यवंशीय राजाओं ने इसका अनुसरण किया है। इससे उन राजाओं की वर्णाश्रम धर्म के पालन में आस्था प्रकट होती है।

शैशवे – शिशोर्भावः। शिशु+अञ् सप्तमी एक वचन। बालकपन से अर्थात् ब्रह्मचर्य अवस्था में।

अभ्यस्तविद्यानाम् – अभ्यस्ता विद्या यैस्तै अभ्यस्तविद्याः तेषाम्। निम्नलिखित सब विद्याएँ राजाओं के लिए आवश्यक हैं— आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति (चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र)।

यौवनम् – यूनो भावः। वार्द्धकम्। वृद्ध वुञ्+वृद्धावस्था।

मुनीवृत्तिनां – मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तियेषां ते मुनिवृत्तयः, तेषाम्। मुनिभाव अर्थात् संन्यास।

तनुत्यजाम् – तनुं देहं त्यजन्ति इति तनुत्यजः, तेषाम्। उपपद तत्पुरुष। तनु+त्यज्+क्विप्, षष्ठी बहुवचन।

योगेन – योग, ईश्वर ध्यान के माध्यम से।

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।।१।।

अन्वय – तनुवाग्विभवोऽपि सन् तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः (अहम्) रघुणाम् अन्वयं वक्ष्ये।

अनुवाद – यद्यपि मेरी वाणी का वैभव (वर्णनशक्ति) कम है तथा (पूर्वोक्त गुणों से युक्त) रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा जिनके गुणों ने मेरे कान में जाकर इस चपल कार्य (रघुवंश काव्य—रचना) को करने के लिए प्रेरित किया है।

टिप्पणियाँ :-

वाग्विभवः – वाचां विभवः वाग्विभवः (षष्ठी तत्पुरुष), तनुवाग्विभवः यस्य सः (बहुव्रीहि) तनुवाग्विभवः। यद्यपि मेरी वाणी का (रघुकुल के वर्णन का) वैभव (सामर्थ्य) थोड़ा है, अर्थात् सूर्यकुल का वर्णन करने का सामर्थ्य कम होने पर भी। शब्दार्थ—ज्ञान—सामर्थ्य अल्प होने पर भी।

अन्वयम् – कुल को, वंश को।

कर्णमागत्य – मेरे कानों में आकर, कानों में पड़ने पर। भाव यह है कि रघुवंशियों के गुणों को अनवरत सुनते रहने के कारण ही महाकवि कालिदास उनके वंश के वर्णन की ओर आकृष्ट हुए हैं।

चापलाय – चपल+अण्। यहाँ "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" सूत्र से चतुर्थी का प्रयोग हुआ है : अर्थ है चंच, उपहसनीय काम के लिए। भाव यह है जब मैं एक ओर सूर्यवंश की महत्ता को तथा

दूसरी ओर अपनी वाणी की दुर्बलता को देखता हूँ तो मुझे दोनों में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। यह जानते हुए भी मैं रघुकाव्य की रचना में इसलिए उत्सुक हूँ कि सूर्यवंशी प्रतापी राजाओं के गुण सुन लेने के बाद (मैं उनसे उतना प्रभावित हो गया हूँ कि) अब मुझसे उनकी प्रशंसा में कुछ कहे बिना नहीं रहा जा सकता है। उनके गुणों के आख्यान में मेरे मुख से निकले उद्गार भले ही तुच्छ क्यों न हो और लोग इसे मूर्खता का काम कहकर इस पर भले ही हंसे, परन्तु मैं कुछ कहे बिना चुप नहीं रह सकता।

विशेष — इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि महाकवि कालिदास ने इन श्लोकों में एक आदर्श राजा का रूप हमारे सामने उपस्थित किया है। यही आदर्श आने वाले 13-30 के श्लोकों में और अधिक स्पष्ट हुआ है।

प्रचोदितः — प्र उपसर्ग+धातु चुद्+णिच्+क्त। उद्यत कर दिया गया। मचल उठा।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

हेमन्ः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।।10।।

अन्वय — तं सदसद्व्यक्तिहेतवः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति हि हेमन्ः विशुद्धिः श्यामिका अपि वा अग्नौ संलक्ष्यते।

अनुवाद — (मेरे द्वारा लिखा जाने वाले) इस रघुवंश महाकाव्य को भले बुरा की पहचान कर सकने वाले सज्जन ही सुन सकते हैं, क्योंकि सोने की शुद्धता अथवा मलीनता (खरा अथवा खटा होना) की परीक्षा उसे अग्नि में (डालने) से हो ही सकती है।

टिप्पणियाँ :-

सदसद् — सत् च असत् च सदसती (द्वन्द्व), सदसतोः व्यक्ति इति सदसद्व्यक्तिः (षष्ठी तत्पुरुष), सदसद् व्यक्तेः, हेतवः इति सदसद्व्यक्तिहेतवः। सज्जन और विद्वान व्यक्ति ही अच्छे और बुरे, शुद्ध और अशुद्ध में भेद करने में समर्थ हैं। ऐसे पारखी ही मेरे काव्य की परीक्षा कर सकते हैं। देखिये—
“आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्” (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

हेमन्ः — हेमन्, षष्ठी एक वचन।

श्यामिका — खोट, मिलावट। सोने में पीतल या लोहा जैसी हल्की और सस्ती धातु का मिश्रण। भाव यह है कि जैसे सोने के पारखी जौहरी ही खरे और खोटे सोने में भेदकर उसकी परीक्षा करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही महाकाव्य के गुण दोष की परख करने वाले विद्वान ही मेरे महाकाव्य रघुवंश के गुण-दोष की परीक्षा कर इसकी प्रशंसा या निन्दा कर सकते हैं। वे ही इसके सुनने के अधिकारी हैं।

संलक्ष्यते — सम् उपसर्ग+धातु लक्ष्+कर्मणि लट्। जाँची जाती है, परीक्षा की जाती है।

महाकाव्य रघुवंश-प्रथम सर्ग (11-25) : मूल पाठ, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥11॥

अन्वय — छन्दसां प्रभव इव मनीषिणाम् माननीयः महीक्षिताम् आद्यः वैवस्वतो नाम मनुः आसीत् ।

अनुवाद — वेदों के ओंकार के समान विद्वानों में पूजनीय, राजाओं में सर्वप्रथम (सूर्यपुत्र), वैवस्वत् नामक मनु हुए ।

टिप्पणियाँ :-

मनीषिणाम् — मनसः ईषिणः मनीषिणः, तेषाम् । मल्लिनाथ के अनुसार यह पृषोदरादिगण का समास है । भट्टोजिदीक्षित के अनुसार यह शकन्धादिगण का समास है ।

वैवस्वतः — विवस्वतः (सूर्यस्य) अपत्यं पुमान् इति । विवस्वत्+अण् । विवस्वान् सूर्य का पुत्र

महीक्षिताम् — पृथ्वी पर शासन करने वाले राजाओं का । मही+क्षि+क्विप् तथा तुगागम ।

छन्दसाम् — वेदों का ।

प्रणवः — वैदिक ऋचाओं के प्रारम्भ में ओंकार अक्षर । मनु कहते हैं— “ब्रह्मचारी को वेदपाठ करते हुए प्रत्येक ऋचा के आरम्भ तथा अन्त में ‘ओम्’ इस अक्षर का अवश्य उच्चारण करना चाहिये ।” क्योंकि ऐसी मान्यता है कि ऋचा के आरम्भ में ‘ओम्’ का उच्चारण न किया जाये तो छात्र अपनी सभी विद्या को भूल जाता है । यदि वह उसका अन्त में उच्चारण न करे तो उसका विनाश हो जाता है । ओम् शब्द ‘त्रिमूर्ति’ का प्रतिनिधि है । अ, उ, म् क्रमशः विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः ।

मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवस्तु त्रयो मताः ॥

जैसे ऋचाओं के आरम्भ में ‘ओं’ आता है वैसे ही वैवस्वत मनु सूर्यकुल के आदि पुरुष थे ।¹ ये राजाओं में प्रथम थे ।

आद्यः — आदौ भव आद्यः, आदि+यत्, प्रथम ।

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥12॥

अन्वय — शुद्धिमति तदन्वये शुद्धिमत्तरः दिलीप इति राजेन्दुः क्षीरनिधौ इन्दुः इव प्रसूतः ।

अनुवाद — जिस प्रकार क्षीर सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ उसी प्रकार उन्हीं (सूर्यपुत्र मनु) के निर्मल वंश में उनसे भी अधिक कान्तिमान्, राजाओं में चन्द्रमा (श्रेष्ठ) दिलीप नामक राजा हुए ।

1 पौराणिक परम्परा के अनुसार एक कल्प में चौदह मनु होते हैं । यहां वर्णित वैवस्वत मनु सातवें मनु हैं जिन्हें सत्यव्रत कहा गया है । वर्तमान मानव जाति के जनक यही मनु कहे जाते हैं । ये अयोध्या के संस्थापक तथा प्रथम राजा भी माने जाते हैं ।

टिप्पणियाँ :-

शुद्धिमति – शुद्धि+मतुप् (शुद्धि वाले में), सप्तमी विभक्ति एकवचन। इस शुद्ध वंश में।

शुद्धिमत्तरः – शुद्धिमत्+तरप्। विशेषण के साथ तरप् तथा ईयसुन् का प्रयोग होता है यदि विशेष्य अभिधा अथवा व्यञ्जना से वर्णित हो। यहाँ शुद्धिमत् विशेषण चन्द्रमा के साथ प्रयुक्त हुआ है। दिलीप अपने वंश से अधिक पवित्र है और चन्द्रमा क्षीरनिधि से उत्पन्न सभी रत्नों से अधिक पवित्र है।

राजेन्दुः – इन्दु शब्द का प्रचलित अर्थ चन्द्रमा है, परन्तु यहाँ 'श्रेष्ठ' अथवा 'उत्तम' में प्रयुक्त हुआ है दिलीप अति प्रसिद्ध श्रेष्ठ राजा हुए। देखिये— 'सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः' (अमरकोश)। ये शब्द "श्रेष्ठ शब्द के अर्थवाचक हैं।"

क्षीरनिधौ इव – जैसे दूध के समुद्र में चन्द्रमा उत्पन्न होता है वैसे ही नृपों में श्रेष्ठ महाराज दिलीप सूर्यकुल (रघुवंश) से उत्पन्न हुए।

इन्दुरिव – पौराणिक परम्परा के अनुसार देवों और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन किये जाने पर जिन चौदह रत्नों उत्पत्ति हुई उनमें से चन्द्रमा भी है। यहाँ उपमा अलंकार है। मनुकुल और क्षीरसागर में साधारण धर्म है अतिशुद्धता और चन्द्रमा तथा दिलीप में आह्लादकत्व।

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।

आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रं धर्म इवाश्रितः।।13।।

अन्वय – व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुः महाभुजः आत्मकर्मक्षमं देहं आश्रितः क्षात्रः धर्म इव (स्थितः)।

अनुवाद – चौड़ी छाती वाले, बैल के समान उठे हुए कन्धों वाले, शालवृक्ष के समान (कद में) ऊंचे तथा लम्बी भुजाओं वाले दिलीप ऐसे लगते थे मानो स्वयं क्षत्रिय धर्म ने अपने कर्तव्य के अनुरूप शरीर धारण कर लिया हो।

टिप्पणियाँ :-

विशेष – 13 से 15 श्लोकों तक महाराज दिलीप के व्यक्तित्व का वर्णन है।

व्यूढोरस्कः – व्यूढं उरः यस्य सः व्यूढोरस्कः (बहुव्रीहि)। व्यूढ=वि उपसर्ग+वह+धातु "उरः प्रभृतिभ्यः कप्" से व्यूढोरस्कः में कप् का आगम। विशाल छाती वाला।

वृषस्कन्धः – वृषस्य स्कन्ध इव यस्यः सः (बहुव्रीहि)। वृष के समान दृढ़ तथा उभरे हुए उन्नत कन्धों वाला।

शालप्रांशुः – शाल इव प्रांशु (उपमितकर्मधारय)। शाल नामक वृक्ष के समान प्रांशु-लम्बा।

आत्मकर्म – दुर्बल एवं पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करना क्षात्र धर्म है। देखिये "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः" (रघुवंश)। परन्तु क्षात्र धर्म का पालन वही कर सकता है जो बलिष्ठ हो और लम्बे चौड़े परिपुष्ट शरीर को धारण करता हो जैसे दिलीप थे। अतएव कवि कल्पना करता है दिलीप के चौड़े वक्षस्थल, चौड़े उन्नत स्कन्ध और लम्बे शरीर को देखकर प्रतीत होता था मानो दुर्बलों और पीड़ितों की रक्षा करने के लिए क्षात्र धर्म ही साक्षात् दिलीप के शरीर में अवतरित हो गया हो। इसी प्रकार भगवान् राम को मूर्तिमान धर्म माना गया है— "रामो विग्रहवान् धर्मः।"

महाभुजौ – महान्तौ भुजौ यस्य यः (बहुव्रीहि)। विशाल (महान्) बाहों वाला।

क्षात्रः – क्षत्रस्य अयमिति क्षात्रः। क्षत्र+अण्।

सर्वातिरिसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना।

स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥14॥

अन्वय – सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना सर्वोन्नतेन आत्मना मेरुरिव उर्वी क्रान्त्वा स्थितः।

अनुवाद – सबसे अधिक बलशाली, तथा अपने तेज से सबको अभिभूत (तिरस्कृत) कर देने वाले (राजा दिलीप) सबसे ऊंचे अपने शरीर से पृथ्वी को इस प्रकार आक्रांत (अधिकृत) कर लिया था, जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने दृढ़, तेजस्वी तथा उन्नत आकार से सारी पृथ्वी को व्याप्त करके स्थिर रहता है।

टिप्पणियाँ :-

प्रस्तुत श्लोक में आत्मा (शरीर) की विशेषता बताने वाले तृतीया विभक्ति एक वचनान्त पद हैं।

सर्वातिरिक्तसारेण – सर्वेभ्य अतिरिक्तः सारः यस्यः सः (बहुव्रीहि) तेन; राजा दिलीप ऐसे शरीर को धारण किये हुए थे जो सब प्राणियों से अधिक बलवान् था।

सर्वतेजोऽभिभाविना – सर्वं च तत्तेजः इति सर्वतेजः (कर्मधारय), सर्वतेजः अभिभूतवान् इति अथवा 'सर्वाणि भूतानि तेजसा अभिभवति इति सर्वतेजोऽभिभावी, तेन सर्वतेजोऽभिभाविना', ऐसा शरीर जो तेज में सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा था अर्थात् सबसे अधिक तेजस्वी था।

क्रान्त्वा – धातु क्रम्+क्तवा।

मेरु – मेरु पर्वत भी अपनी शक्ति तेज और आकार से पृथ्वी को व्याप्त करके स्थिर है। सुमेरु पर्वत सुवर्ण का आगार है अतएव अत्यधिक प्रभावान् है। सुमेरु का सार (धातु आदि) अन्य पर्वतों के सार से बढ़ा-चढ़ा है। सुमेरु के समान अन्य कोई पर्वत ऊँचा नहीं है। राजा दिलीप की सुमेरु पर्वत से उपयुक्त ही तुलना की गई है।

आकारसदृशः प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।

आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥15॥

अन्वय – आकारसदृशः प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः, आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः (स आसीत्)

अनुवाद – जैसे उनका आकार (विशाल शरीर) था वैसी ही उनकी बुद्धि (कुशाग्र) थी, जैसी उनकी (तीक्ष्ण) बुद्धि थी वैसा ही उन्हें शास्त्रों का (गहन) ज्ञान था, जैसा (गम्भीर) उनका शास्त्रज्ञान था वैसे ही (महान्) उनका उद्यम था और जैसे उनके (महान्) उद्यम (कर्म) थे वैसे ही उन्हें सफलता मिलती थी।

टिप्पणियाँ :-

आकारसदृशः प्रज्ञः – शरीर में ब्रह्मा रूप, बाह्य आकृति। उन्नत शरीरानुकूल दिव्य बुद्धि (ज्ञान)।

सदृशः – अनुरूप। जैसा आकार था उसके अनुरूप ही उसकी बुद्धि थी। आकारेण सदृशी प्रज्ञा यस्य सः (बहुव्रीहि)।

आगमः – आ उपसर्ग+धातु + गम्+अप्; वेद एवं तदनुकूल शास्त्रों का अध्ययन, ज्ञान, विद्या।

आरम्भः — आ उपसर्ग+धातु रभ्+घञ्; प्रयत्न, उद्योग, कर्म। उसके ज्ञान (आगम) के समान ही उसकी योजनाएं तथा कार्य महान् थे। प्राप्त शास्त्रीय विद्याओं के अनुरूप ही उनका आरम्भ था।

उदयः — उत् उपसर्ग+धातु इ+अय्; सफलता, सिद्धि। उसकी योजनाओं के अनुसार ही उसकी सिद्धि थी।

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।

अधृश्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥16॥

अन्वय — भीमकान्तैः नृपगुणैः स उपजीविनां यादोरत्नैः अर्णव इव अधृश्यः च अभिगम्यः च बभूव।

अनुवाद — जिस प्रकार समुद्र मगरमच्छ आदि भयंकर जल जन्तुओं के कारण दूर ही रहने योग्य तथा रत्नों के कारण आश्रयणीय (समीप जाने योग्य) होता है उस प्रकार तेज प्रताप आदि भयंकर तथा दया दाक्षिण्यादि मनोहर राजकीय गुणों के कारण वे (राजा दिलीप) भी (लोगों के लिए) भयावह और आकर्षक दोनों थे।

टिप्पणियाँ :-

विशेष — राजा में ऐसी विशेषता होनी चाहिये कि लोग उसका भय भी मानें तथा उससे प्रेम भी करें। यदि राजा से भय न हो तो लोग राज्य की मर्यादाओं का पालन नहीं करेंगे और यदि राजा से प्रेम न तो लोग उदासीन रहेंगे और हृदय से उसे नहीं चाहेंगे। दिलीप में दोनों ही गुण थे। उसके शौर्य, पराक्रम आदि गुणों के कारण शत्रु उसके पास जाते डरते थे और उसके दया, दाक्षिण्य क्षमा आदि गुणों के कारण मित्र तथा याचक उसका आश्रय लेते थे और उससे अनुराग करते थे। राजा के लिए भीम एवं कान्त उभयगुणात्मक होना परमाश्वयक है।

भीमकान्तैः — भयानक भी आकर्षण भी। दिलीप में दोनों ही गुण थे। दोनों प्रकार के गुणों की विद्यमानता प्रजाजन के धर्मपालन में सन्तुलन लाती थी।

अधृष्यः — न धृष्यः (धातु धृष्+यत्); वह जिसे तिरस्कृत न किया जा सके। दिलीप का भय माना जाता था।

अधिगम्यः — अभि उपसर्ग+धातु गम्+यत्, जिसके पास पहुंचा जा सके, जो दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। प्रजाजन का वह प्रेम एवं समादर का पात्र भी था।

यादो — यादांसि च रत्नानि च इति यादोरत्नानि (द्वन्द्व) तैः, भयानक जल-जन्तु मगरमच्छ ("यादांसि जलजन्तवः" अमरकोश)। रत्नैः- मणि-मौक्तिकादि।

जिस तरह लोग भयंकर जल जीवों के कारण समुद्र से दूर रहते हैं और उसके पास जाने से डरते हैं परन्तु सुन्दर रत्नों के कारण उसके पास आते हैं और उसमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा दिलीप के शौर्य, पराक्रम आदि गुणों से लोग उससे भयभीत रहते थे परन्तु उसके दया दाक्षिण्य आदि गुणों के कारण उसके समीप आते थे और उससे प्रेम करते थे।

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।

न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥17॥

अन्वय — नियन्तुः तस्य नेमिवृत्तयः प्रजा आमनोः क्षुण्णात् वर्त्मनः परं रेखामात्रमपि न व्यतीयुः।

अनुवाद — जिस प्रकार कुशल सारथि द्वारा चलाये गये रथ के पहिये बने हुए मार्ग से तनिक भी बाहर नहीं जाते, उसी प्रकार योग्य शासक दिलीप द्वारा शासित प्रजा भी मनु से आरम्भ हुए आचार मार्ग से तिलमात्र भी विचलित नहीं होती थी।

टिप्पणियाँ :-

नियन्तुः — शासक दिलीप की या रथचालक का। नि+यम्-तृच् षष्ठी एक वचन।

नेमिवृत्तयः प्रजा — दिलीप की प्रजा जिसका व्यवहार रथ के चक्र (पहिये) के समान था। भाव यह है कि जिस प्रकार कुशल सारथि से चलाये गये रथ के पिछले पहिये अगले पहिये के बने हुए मार्ग से रेखा मात्र (थोड़ा भी) बाहर नहीं जाते, उसी प्रकार कुशल शासक दिलीप की प्रजा भी भगवान् मनु द्वारा 'मनुस्मृति' नामक आचार संहिता में व्यवस्थापित आचार पद्धति से तिल मात्र भी विचलित नहीं होती थी। सारी प्रजा नियमों का पालन करती थी।

आमनोः — मनुम् आरभ्य, मनु के समय से लेकर।

न व्यतीयुः — वि उपसर्ग+अति उपसर्ग+धातु इ+लिट्, अन्य पुरुष बहुवचन। उल्लंघन नहीं करती थी। स्वधर्म पालन में सदा (प्रजा) तत्पर रहती थी।

क्षुण्णाद् वर्त्मनः परम् — व्यवस्थापित या बने हुए मार्ग से बाहर। रथ के पक्ष में— बने हुए रास्ते से; राजा दिलीप के पक्ष में — मनु के समय से अभ्यस्त धर्म मार्ग से।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥18॥

अन्वय — स प्रजानां भूत्यर्थमेव ताभ्यो बलिम् अग्रहीत्, हि रविः सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुं रसम् आदत्ते।

अनुवाद — जिस प्रकार सूर्य हजार गुना बढ़कर (वापस) देने के लिए ही (पृथ्वी से) रस (जल) खींचता है, उसी प्रकार राजा दिलीप भी प्रजा के कल्याण के लिए ही उससे कर लेते थे।

टिप्पणियाँ :-

बलिम् — कर, शुल्क, टेक्स। हिंदुओं के अर्थशास्त्र के अनुसार उपज का छठा भाग राजा का भाग माना गया है जिसे हजार गुना करके वह अपने सुख और आराम पर व्यय न कर प्रजा के कल्याण के कार्यों (कुएं खुदवाना, अस्पताल खोलना आदि) पर व्यय करता है।

उत्स्रष्टुम् — उत् उपसर्ग+धातु सृज्+तुमुन्, वापस दे देने के लिए लौटा देने के लिए।

सहस्रगुणम् — हजार गुना। जिस प्रकार सूर्य भगवान् जिस जल को पृथ्वी आदि से सुखाकर ले लेते हैं, उसी को सहस्रगुणम् कर पुनः वर्षा के रूप में लौटा देते हैं, ठीक उसी प्रकार महाराज दिलीप भी प्रजा द्वारा दिये गये कर को हजार गुना कर प्रजा के कल्याण के लिए लगा देते थे। **"त्यागाय सम्भृतार्थानाम्।"** (रघुवंशम्)

रसम्—जल

**सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥19॥**

अन्वय – तस्य सेना परिच्छ (आसीत्) । शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः धनुषि आतता मौर्वी च, द्वयमेव अर्थसाधनम् (अभूत्) ।

अनुवाद – राजा दिलीप की सेना तो केवल उनकी शोभा के लिए ही थी, क्योंकि उनके प्रयोजन (की पूर्ति) के साधन दो ही थे— शास्त्रों में अकुण्ठित (तीक्ष्ण) बुद्धि तथा धनुष पर चढ़ी डोरी ।

टिप्पणियाँ :-

सेना परिच्छदः – राजा दिलीप की सेना रक्षा के कार्य के लिए न होकर चामर के समान केवल उनकी शोभा और वैभव बढ़ाने के लिए थी, क्योंकि वे इतने दूरदर्शी और बलिष्ठ थे कि अकेले ही सब कार्य कर सकते थे। सेना तो वे रक्षा आदि किसी प्रयोजन के लिए नहीं अपितु शोभा के उद्देश्य के लिए रखते थे। सेना के दो ही मुख्य कार्य हैं— बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा आन्तरिक अव्यवस्था को रोकना। महाराजा दिलीप का इतना प्रभाव था कि अन्य राजा उनके राज्य पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं करते थे। साथ ही वे इतने नीतिकुशल तथा प्रजापालक थे कि प्रजा में अशान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं थी। अतः इन दोनों में से कोई भी कार्य न होने से उनकी सेना केवल अलङ्करण मात्र ही थी।

द्वयम् – राजा के सभी कार्य केवल दो चीजों— उनकी सूक्ष्मदर्शी बुद्धि और उनकी धनुष पर चढ़ी डोरी—से ही सिद्ध हो जाते थे। उन्हें सेना की आवश्यकता ही नहीं पड़ता थी। भाव यह है कि चक्रवर्ती दिलीप में नीति और शक्ति दोनों का समन्वय था। नीति के बिना अकेली उनकी शक्ति प्रवृत्त नहीं होती थी। अतएव उन्हें सदा सफलता प्राप्त थी। कहा भी है – “कातर्यं केवला नीतिः, शौर्यं श्वापदचेष्टितम्”– रघुवंश, 17, 47।

अकुण्ठिता – वह बुद्धि जो मन्द नहीं होती थी अर्थात् जो सूक्ष्मदर्शी थी।

आतता – आ उपसर्ग + धातु तन् + क्त+टाप्। (धनुष पर) चढ़ी हुई

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।

फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥20॥

अन्वय – संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च तस्य प्रारम्भाः प्राक्तनाः संस्काराः इव फलानुमेयाः (बभूवुः) ।

अनुवाद – सब प्रकार के मंत्रों (विचारणाओं) को गुप्त (संवृत) रखने वाले तथा (भंवे तरेरना, मुख लालिमा आदि क्रोध, हर्ष आदि के सूचक) बाह्य शारीरिक चिन्हों तथा हृदयगत आन्तरिक भावों को भी छिपा लेने वाला राजा दिलीप के (समस्त राजनीतिक सामादि) उपाय पूर्वजन्म के संस्कारों के समान फल (परिणाम) से ही जाने जाते थे। (जैसे फलों को ही देखकर मनुष्य के पूर्वजन्म के संस्कारों का अनुमान लगाया जाता है कि पहले अच्छे व बुरे कार्य किये होंगे वैसे ही जब दिलीप के साम-दाम-दंड-भेद आदि उपाय सफल हो जाते थे तभी लोगों को ज्ञात होता था कि राजा ने इन उपायों को पहले आरम्भ किया होगा।)

टिप्पणियाँ :-

सफलता के लिए राज-मंत्र या राजनीति का नितान्त गुप्त रहना अत्यन्त आवश्यक है। राजा को इतना कुशल होना चाहिये कि उसकी मुखमुद्रा, आकार-प्रकार आदि देखकर भी लोग उसके मन के गुप्त के भाव को समझ न सकें। जो बात उसके मन में है वह सदा गुप्त ही रहनी चाहिये, किसी प्रकार भी प्रकट नहीं होनी चाहिये। केवल कार्य सिद्ध हो जाने पर ही वह प्रकट होनी चाहिये, उससे पूर्व नहीं। राजा दिलीप मंत्र-रक्षा में कुशल थे। अतएव कार्यसिद्ध हो जाने पर ही लोगों को उनकी नीतियों का भेद पता चलता था, उससे पूर्व नहीं। इसी प्रकार का विचार भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य में ही व्यक्त हुआ है :-

“महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः, प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः।” (किरातार्जुनीयम् 1.20)

संवृतमन्त्रस्य — संवृतः मन्त्रः येन सः संवृतमन्त्र (बहुव्रीहि)। जिसकी नीतियां या मन्त्रणाएं सदा गुप्त रहती थीं गूढाकारेङ्गितस्य— 'आकारश्च इङ्गितश्च आकारेङ्गिते (द्वन्द्व) गूढे आकारेङ्गिते यस्य सः (बहुव्रीहि) तस्य।' जिसके शोक आदि के सूचक मुख-विकार तथा चेष्टाओं और मन के भाव नहीं जाने जा सकते थे। गूढ-गुप्त, आकार-शारीरिक मुख-विकार, बाह्य चेष्टाएं। इंगित-हृदय के भाव चेष्टाएं।

संस्काराः — हिन्दू पूर्वजन्म में विश्वास करते हैं। प्रत्येक वर्तमान जन्म पूर्व (पिछले) जन्म में किये कर्मों का फल है। वर्तमान जन्म में मनुष्य जो कुछ अच्छा या बुरा भोगता है वह सब उसके पूर्वजन्म के अच्छे या बुरे कर्मों का फल है। यदि उसने पूर्वजन्म के अच्छे कर्म किये हैं तो इस जन्म से उसे उसके अनुसार सुख मिलता है। यदि बुरे कर्म हैं तो तदनुसार उसे दुःख मिलता है। यद्यपि किसी को पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तथापि वर्तमान जन्म में भोगे जा रहे सुख-दुःख के परिणाम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति ने पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किये होंगे या बुरे। इसी प्रकार महाराजा दिलीप की नीतियों का, जब तक वे गुप्त रहती थीं, किसी को उनका कुछ भी ज्ञान नहीं होता था परन्तु उनकी सफलता को देखकर ही पता चलता था कि दिलीप ने अमुक समय में इस नीति को आरम्भ किया होगा।

फलानुमेयाः — 'प्रारम्भाः' का विशेषण। वे कर्म जिसका अनुमान उनके फल से ही लगता है इसके बिना नहीं। **प्रारम्भाः** — उपाय, उद्योग।

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।

अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्।।21।।

अन्वय — स अत्रस्तः आत्मानं जुगोप, अनातुरः धर्म भेजे, अगृध्नुः अर्धम् आददे, असक्तः सुखम् अन्वभूत्।

अनुवाद — राजा दिलीप निर्भीक होकर अपनी रक्षा करते थे (किसी के भय से नहीं), अनातुर (नीरोग) होकर धर्म का पालन करते थे (किसी स्वार्थ से नहीं)। लोभरहित होकर धन का संग्रह करते थे (लोभ से नहीं), तथा आसक्ति को त्यागकर सांसारिक सुख का अनुभव करते थे (आसक्ति से नहीं)।

टिप्पणियाँ :-

अत्रस्तः — न त्रस्तः, अत्रस्तः (नञ् तत्पुरुष)। बिना डरे हुए।

जुगोप — धातु गुप्+लिट्, अन्य पुरुष एक वचन, (उसने) रक्षा की। महाराजा दिलीप अपने शरीर की भलीभांति रक्षा करता था यद्यपि उसे किसी से भय नहीं था। शास्त्रों के अनुसार राजा के लिए यह

आवश्यक है कि वह अपनी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखे, भले ही भय का कोई कारण न हो। अपनी सुरक्षा के लिए चक्रवर्ती दिलीप ने रक्षकादि भी नियुक्त नहीं किये थे क्योंकि वह स्वयं अपनी शूरता से ही अपनी रक्षा करने में समर्थ था। देखिये— ‘स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः’ मनु की सन्तान अपने वीर्य (बल) से ही रक्षित थी।

भजे — धातु भञ्+लिट्, अन्य पुरुष, ए वचन, पालन किया।

अनातुरः — न आतुरः अनातुरः (नञ् तत्पुरुष)। किसी रोग से पीड़ित न होकर; स्वस्थ अवस्था में ही। प्रायः रोगग्रस्त हो जाने में अथवा विपत्ति के सिर पर आ पड़ने पर ही लोग ईश्वर को स्मरण करते हैं और धर्म का पालन करते हैं। परन्तु राजा दिलीप किसी स्वार्थ से नहीं अपितु अपना कर्तव्य समझकर यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते थे। गीता में चार प्रकार के भक्त कहे हैं, उनमें ही एक आतुर भी है “चतुर्विधा भजन्ते मां...आर्तो...” (गीता 7/16) इति। परन्तु धर्मपालन में तत्पर दिलीप अनातुर ही रहते थे।

असक्तः — न सक्तः, असक्तः (नञ् तत्पुरुष)।

अगृध्नुः — बिना लोभी हुए अर्थात् लोभ में आकर नहीं। अ+गृध्+क्नु। दिलीप ने धन का संग्रह लोभवश नहीं किया था, अपितु शास्त्र के विधानानुसार (राजा को एक समुचित धनराशि का संचय करना चाहिये) ही किया था। “मा गृधः कस्य स्विद्धनम्” (ईशावस्योपनिषद्)।

अन्वभूत् — अनु उपसर्ग+धातु भू+लृङ् प्रथम पुरुष, एकवचन, अनुभव किया, भोगा।

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।

गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव।।22।।

अन्वय — ज्ञाने (सत्यपि) मौनम्, शक्तौ (सत्यामपि) क्षमा त्यागे सत्यपि श्लाघाविपर्ययः, तस्य गुणा गुणानुबन्धित्वात् सप्रसवा इव (आसन्)।

अनुवाद — ज्ञान में (दूसरों की बात जानकर) भी मौन रहना, शक्ति में (शत्रु से बदला लेने में सामर्थ्य) रहते हुए भी क्षमा करना तथा त्याग में (दान देकर) आत्मप्रशंसा न करना, इस प्रकार दिलीप के ज्ञान आदि गुण अपने विरोधी मौन आदि गुणों के साथ मेल से रहने के कारण (एक—दूसरे के विरोधी नहीं प्रस्तुत) सप्रसव (सगे भाई जैसे) जान पड़ते थे।

टिप्पणियाँ :-

विशेष — परस्पर विरोधी गुण विरोध छोड़कर रघुकुल तिलक दिलीप में ऐसे निवास करते थे जैसे वे विरोधी नहीं अपितु परस्पर सहोदर हों। जैसे ज्ञान होने पर लोगों को मौन रहते नहीं देखा जाता। इस प्रकार ज्ञान और मौन विरोधी गुण है। शक्ति होने पर बहुत कम लोग क्षमा करते देखे जाते हैं। दान देने पर सब लोग आत्म—प्रशंसा चाहते हैं। परन्तु लोक में सामान्य रूप से विरोधी प्रतीत होने वाले यह गुण दिलीप में परस्पर मिलकर निवास करते थे, क्योंकि वे किसी बात को जानते हुए भी उसे प्रकट नहीं करते थे प्रत्युत चुप रहते थे। प्रतिकार लेने की शक्ति होने पर भी विरोधी को क्षमा कर देते थे। त्याग करके भी अपनी प्रशंसा नहीं सुनना नहीं चाहते थे।

ज्ञाने मौनम् — (मुनि+अण्) मल्लिनाथ के अनुसार इसका अर्थ है— दूसरे के गुप्त रहस्यों को जानते हुए भी दिलीप उन्हें प्रकट नहीं करते थे। अपनी वाणी पर उनका पूर्ण नियंत्रण था।

शक्तौ क्षमा – शक्ति होने पर भी क्षमा कर देते थे। चाणक्य का कथन है— **शक्तानां भूषणं क्षमा** ।

त्यागे श्लाघा-विपर्ययः – त्यागे श्लाघायाः विपर्ययः (षष्ठी तत्पुरुष) आत्मप्रशंसा का अभाव। दान करने पर भी मान नहीं करते थे। अहंकारशून्य थे। इस दिव्य निरभिमानीता का परिचय महाकवि कालिदास के पूर्व के महाकवि भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् की नारी पात्र पद्मावती के चरित्र में ही विद्यमान है। देखिये पद्मावती की घोषणा— **आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा** ।

गुणानुबन्धित्वात् – गुणानाम् (मौन क्षमा श्लाघाविपर्ययादीनाम्) अनुबन्धनः, अविरोधेन अनुगन्तुं शीलं येषां ते गुणानुबन्धितः, तेषां भाव गुणानुबन्धित्वम्, तस्मात्। एक गुण विरोधी होने पर भी दूसरे विरोधीगुण से जुड़ा होने या मिला रहने के कारण या एक गुण का दूसरे गुण से सौहार्द होने के कारण।

सप्रसवाः – सह प्रसव येषाम् ते सप्रसवाः। सगे भाई, एक ही माता से जन्म लेने वाले। सहोदर।

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।

तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना।।23।।

अन्वय – विषयैः अनाकृष्टस्य विद्यानां पारदृश्वनः धर्मरतेः तस्य जरसा विना वृद्धत्वम् आसीत्।

अनुवाद – सांसारिक विषय भोगों के प्रति आकृष्ट न होने वाले, (वेदाङ्गादि) विद्याओं के पारंगत तथा धर्म में अनुराग रखने वाले राजा दिलीप उम्र के वृद्ध न होने पर भी (अर्थात् युवावस्था में ही) बिना वृद्धावस्था (बुढ़ापे) के ही (ज्ञान के कारण) वृद्ध थे।

टिप्पणियाँ :-

अनाकृष्टस्य – न आकृष्टस्य (नञ्+आ+धातु कृष्+क्त)। जो (दिलीप) विषयों से (विषयैः) अनाकृष्ट थे। इसका अर्थ है कि यद्यपि वह आयु में वृद्ध नहीं थे, फिर भी वैराग्य (अनासक्ति) में वृद्ध था।

पारदृश्वनः – पार-धातु दृश्-क्वनिप्। पार-दृष्टवान् इति पारदृश्वत् तस्य (उपपद तत्पुरुष)। पार अर्थात् अन्त तक को देख लेने वाला, पारंगत, पूर्ण ज्ञाता। दूरदृष्टि वाले।

विद्यानाम् – विद्याओं का। विद्याएँ चार मानी गई हैं—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।

विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः।।

विद्याएँ चौदह भी मानी गई हैं—

षडङ्गमिश्रिताः वेदाः धर्मशास्त्रं पुराणकम्।

मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याः चतुर्दश।।

वेदांग छः हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष।

धर्मरतेः – धर्म रतिः यस्यः सः धर्मरतिः (बहुव्रीहि), तस्य। वह जिसकी धर्म में निष्ठा है। दिलीप का विशेषण।

जरसा विना – वृद्धत्व के विना। दिलीप आयुवृद्ध नहीं अपितु वैराग्यवृद्ध, विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा धर्मवृद्ध थे।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।

स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।24 ।।

अन्वय – प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणाद् अपि स पिता (आसीत्); तासां पितरः केवलं जन्महेतवः (आसन्) ।

अनुवाद – प्रजा को (सन्मार्ग प्रवर्तन रूप) विनय (शिक्षा) प्रदान करने के कारण, (विपत्तियों से उनकी) रक्षा करने के कारण तथा (अन्न जल से उनका) भरण-पोषण करने के कारण राजा दिलीप ही वास्तव में प्रजा के पिता थे उनके (प्रजा के) वास्तविक पिता तो केवल उनके जन्म ही देने वाले नाम के पिता थे। (प्रजा की शिक्षा-रक्षा का काम करने से दिलीप ही उनके वास्तविक पिता थे।)

टिप्पणियाँ :-

विशेष – अपनी सन्तान की रक्षा करना, उसका भरण-पोषण और उसे सुशिक्षित करना माता-पिता का कर्तव्य है। राजा दिलीप भी सन्तान की भांति प्रजा की रक्षा करते थे। उसके पोषण के लिए अन्न-जल की व्यवस्था करते थे और उसे सन्मार्ग में प्रवर्तित करते थे। अतः वे ही सच्चे अर्थ में प्रजा के वास्तविक पिता थे। प्रजा के वास्तविक माता-पिता तो जन्म देने वाले केवल नाम के ही पिता थे। प्रजा के प्रति पिता का कर्तव्य तो राजा दिलीप ही निभाते थे। अतः वे सचमुच प्रजा के पिता थे : “पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः” (रघुवंश)।

विनयाधानात् – विनयस्य आधानात्- (षष्ठी तत्पुरुष)। विनय का शब्दार्थ है शिक्षा, उन्हें अच्छी शिक्षा देने से, उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त करने से।

रक्षणात् – रक्ष+ल्युट्। पञ्चमी एकवचन। विनयाधानात् रक्षणात् भरणात् में हेतु के कारण पञ्चमी है।

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये ।

अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ।।25 ।।

अन्वय – दण्ड्यान् स्थित्यै दण्डयतः प्रसूतये परिणेतुः मनीषिणः तस्य अर्थकामौ अपि धर्म एव आस्ताम् ।

अनुवाद – लोकमर्यादा के पालन हेतु ही (द्वेष के कारण नहीं) अपराधियों के दण्ड देने वाले, सन्तान के लिए ही (भोगविलास के लिए नहीं) विवाह करने वाले, विद्वान् (बुद्धिमान्) राजा दिलीप के अर्थ और काम भी (लोकप्रतिष्ठा तथा वंशधर पुत्र को जन्म देने के कारण) धर्म ही बन गए थे।

टिप्पणियाँ :-

विशेष – अपराधियों को दण्ड देना राजा का कर्तव्य है। वह उन्हें शारीरिक दण्ड दे सकता है और धन का दण्ड भी। परन्तु राजा दिलीप धन संग्रह करने के लोभ में आकर ही अपराधियों को धन का दण्ड नहीं देते थे, अपितु अपराध के निवारण के उद्देश्य से ही अपराधियों को दण्डित करते थे जिससे राज्य में शान्ति और स्थिरता रहे और प्रजा निर्भय होकर अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त रहे।

स्थित्यै – लोकप्रतिष्ठा के लिए, राज्य में शान्ति और स्थिरता के लिए।

दण्ड्यान् – दण्ड+य, दण्डम् अर्हन्तीति दण्ड्याः, तान्, अपराधी लोग।

दण्डयतः – धातु दण्ड्+णिच्-शतृ, षष्ठी विभक्ति (अपराधी को) दण्ड देते हुए। कहा भी है—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति ॥

‘दण्ड’ का अर्थ यहाँ पैसे के रूप में सजा से ही है, अन्यथा ‘अर्थ’ की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिणेतुः – परि उपसर्ग-धातु नि+शतृ+षष्ठी विभक्ति, एकवचन (सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से) विवाह करने वाले।

प्रसूतये – सन्तान के लिए।

अर्थकामौ – अर्थश्च कामश्च इति अर्थकामौ (द्वन्द्व समास)। मध्यस्थ (बीच के) पुरुषार्थद्वय। चार पुरुषार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

धर्म एव – अर्थ और काम यद्यपि व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए उपादेय होते हैं परन्तु राजा दिलीप के लिए अर्थ और काम अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं थे, अपितु दूसरों के सुख के लिए ही थे। अतः परोपकार के लिए होने के कारण उनके अर्थ तथा काम भी धर्म ही थे। राजा दिलीप अपराधियों को दण्ड देने के लिए ही उनसे धन लेते थे; व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं। अतः उनका अर्थ भी धर्म का ही रूप था। वे विषयभोग के लिए विवाह नहीं करते थे, अपितु पुत्र को जन्म देकर वंश परम्परा की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए ‘काम’ में प्रवृत्त होते थे। ‘सन्तान’ शब्द का एक अर्थ इसी मानवपरम्परा का विस्तार है। इसी प्रकार अर्थ अपने लिए नहीं अपितु प्रजा के कल्याण के लिए था। अतः उसके अर्थ और काम परार्थ के लिए होने के कारण धर्म ही थे। देखिए— “धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।’ (भगवद्गीता 7/11)

आस्ताम् – धातु अस्, लङ्, अन्य पुरुष, द्विवचन, थे।